वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण

भेंट

श्रीराधारमणजी !

सरकार ! इसे ग्रहण कीजिये !

लालसा है दिलमें प्यारे मैं तुझे देखा करूँ ।
तू मुझे देखे-न-देखे मैं तुझे देखा करूँ ॥

श्रीहरिः

निवेदन

'मनन-माला' के पिरोनेवाले श्रीज्वालासिंहजी सरल-हृदयके एक भावुक पुरुष हैं। इस पुस्तकमें इन्हींकी भावतरङ्गोंकी कुछ झाँकियाँ हैं। झाँकियाँ सुन्दर हैं। 'ज्वाला' के सिवा अन्य सभी पद या दोहे संगृहीत है परन्तु उन्हें अपने भावके अनुसार वना लेनेमें ज्वालासिंहजीने निरङ्कुशतासे काम लिया है। उनकी भावुकताके खयालसे पाठ शुद्ध न करके उन्हें ज्यों-का-त्यों छाप दिया गया है। यह उनका दोष नहीं है, भावुकता है। पाठकोंसे यही प्रार्थना है कि वे साहित्यकी दृष्टिको छोड़कर भावुक-हृदयसे ही इसे पढ़ें, तभी विशेष आनन्द मिलेगा।

विनीत—

प्रकाशक
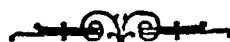
विषय-सूची

श्रीराधारमणो जयति

मनन-माला

अभिलाषा

सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मम उर बसौ, सदा बिहारीलाल॥

व्रज-जन-मन-हारी प्राणप्यारे बिहारीलालकी वह बाँकी झाँकी सदा इस हियमें बसी रहे, वह रूपमाधुरी नित्य नयनोंमें धँसी रहे तो यह जीवन निहाल हो जाय। वही छटा, वही प्रभा, वही आभा मेरे रोम-रोममें रमी रहे। सदा उसी सलोने साँवरेकी सुधि आती रहे। बस, यही इस अकिञ्चनकी अनन्त कालकी अनन्य अभिलाषा है। प्यारेकी प्रत्येक वस्तुसे प्रेम हो,

जिस रूपको भी देखूँ, उसीमें अपने उस प्रियतमके दर्शन करूँ। अहा ! मेरी यह दशा कब होगी—

नील कंज फूल देख आननकी याद आवे,
पूनौंके चन्द्रसे मुकुट दरसाय जात।
गुंजनसे गुंजमाल, बननसे बनमाल,
मोर-पंख पुंजनसे ख्याल सरसाय जात॥
'ग्वाल' कवि गैयनसे ग्वालनके गोलनसे,
बाँसनसे छरनिसे छबि वही छाय जात।
मठासे मथानीसे मथनेसे सु-माखनसे,
मोहनकी मेरे मन सुधि आय आय जात॥

अहा ! मोहनकी सुधा-सनी सुधि आ तो जाती है, किन्तु आकर वह निगोड़ी जमकर रहती नहीं, फिर भाग जाती है ! अगर वह सुधि सती-साध्वीकी तरह मेरे घरकी ही होकर रह जाय तो सब काम बन जायँ। देख मन ! अब कभी वह सुधि आवे तो झटसे उसे पकड़कर हृदयमें छिपा ही लेना। खबरदार, फिर निकलने ही न पाये। प्यारे श्रीराधारमण बाधाहरणकी अनूप-रूप-माधुरीका नित-नयी उमंगसे निरन्तर पान करते ही रहना। उस लासानी चीज़को पाकर फिर तुझे सांसारिक वस्तुओंमें भटकनेकी दरकार ही न रहेगी। देखना ! खूब सावधानीके साथ चौकसी करना। अबकी बार भूल हुई तो फिर यह जिन्दगी हाय

मलते-मलते ही बीतेगी । अहा ! मेरे उस मनमोहन मतवारे माधवपर कोई क्या-क्या नहीं तज सकता—

घर तजौं बन तजौं 'नागर' नगर तजौं,
बंशीवट तट तजौं काहू पै न लजिहौं ।
देह तजौं गेह तजौं नेह कहौ कैसे तजौं,
आज काज राज बीच ऐसे साज सजिहौं ॥
बावरो भयो है लोक बावरी कहत मोको,
बावरी कहे ते मैं काहू ना बरजिहौं ।
कहैया सुनैया तजौं बाप और भैया तजौं,
दैया तजौं मैया ! पै कन्हैया नाहिं तजिहौं ॥

ठीक ही तो है, भला, वह कमनीय कन्हैया कैसे तजा जाय ? वास्तवमें वह प्यारी मूर्ति ही ऐसी है कि एक बार किसी बहाने चित्तमें बस जाय तो फिर कभी निकलती ही नहीं *'निकसत नहिं वह कौनेहू बिधि रोम रोम उरझानी ।'* फिर तो ज्यो-ज्यो भूलो, त्यों-ही-त्यो और भी अधिक उसकी याद आती जाती है । फिर तो वह प्रत्येक क्षण बॉसुरी बजाता और मन्द-मन्द मुसकुराता ही दीख पड़ता है ।

हर हालमें बस पेशे नजर है वही मूरत ।
हमने कभी रूए शबे हिजरां नहीं देखा ।

प्यारे मोहनकी मुसकुराहटकी अनोखी छवि कुछ-से-कुछ बना देती है—यह अलौकिक झॉकी सामान्य भाग्यवाले मनुष्योंको

थोड़े ही प्राप्त होती है? अहा हा! कैसा आनन्दाम्बुधिमे मग्न करनेवाला है उसके चिन्तनका प्रभाव—

दशन पाँति मुतियन लड़ी अधर ललाई पान।
ताहू पै हँसि हेरिबो को लखि बचै सुजान॥
मृदु मुसुकान निहारिके जियत बचत है कौन।
नारायण कै तन तजै कै बौरा कै मौन॥
औरै कछु बोलनि चलनि औरै कछु मुसुकानि।
औरै कछु सुख देति हैं सकैं न बैन बखानि॥
जाके मनमें बस रही मोहनकी मुसुकान।
नारायण ताके हिये और न लागत ज्ञान॥

प्रेम-मदिरामें छककर मतवाले बने हुएको होश तो रहता ही नहीं, फिर ज्ञान किसे सुहाये? वह मतवाला तो हरदम प्रेमसागरमें डूबा ही रहता है। स्तुति-निन्दा और सुख-दुःख सब उसे एक-से ही प्रतीत होते हैं। वह दीवाना बेचारा 'अगर-मगर लेकिन-परन्तु' क्या जाने? वह बावला तो आठों पहर प्यारेके माधुर्य-मदमें ही मस्त रहता है—

जाहिरमें गोके बैठा लोगोंके दरम्याँ हूँ—
पर यह खबर नहीं है मैं कौन हूँ कहाँ हूँ।

बस, प्यारा सामने है और वह उसे देख रहा है—शेष संसारका कोई भान ही नहीं! वह मुसुकानि ही ऐसी है कि जो सब कुछ भुला देती है—

श्याम-गौर बदनारविन्दपर जिसको वीर मचलते देखा,
नैन बान मुसुकान मन्दपर, कभी न नेक सँभलते देखा।
ललितकिसोरी जुगल इश्कमें बहुतोंका घर घलते देखा,
डूबा प्रेमसिन्धुका कोई हमने नहीं उछलते देखा॥

हे प्यारे जीवनधन! बस, इस प्रेम-समुद्रकी एक ही बूँद-का हमें हिस्सेदार बना दो, हम तो यह नहीं जानते थे कि तुम प्रेमसागर हो। आजतक कुछ-से-कुछ ही माने हुए थे। वैसे तो बहुत समयसे तुम्हें जानते थे, पर तुम्हारी इस महान् महिमाका पता नहीं था। अरे, अब तो ज्यो-ज्यों समझते हैं त्यो त्यो मूक ही होते चले जाते हैं और अपनेको तुमसे तनिक भी पृथक् नहीं पाते हैं। बलिहारी! तुम्हे समझनेपर तो तुम कुछ विचित्र-हीसे प्रतीत होते हो——

मिरे दिलदार तुम हो, यार तुम हो, दिलरुबा तुम हो।
यह सब कुछ है मगर मैं कह नहीं सकता कि क्या तुम हो॥
तुम्हारे नामसे सब लोग मुझको जान जाते हैं।
मैं वह खोई हुई इक चीज़ हूँ जिसका पता तुम हो॥
मुहब्बतको तुम्हारी इक जमाना हो गया लेकिन।
न तुम समझे कि क्या मैं हूँ, न मैं समझा कि क्या तुम हो॥
न तुम तुम हो, न हम हम हैं, न हम हम हैं, न तुम तुम हो।
हमी हम हैं, तुम्हीं तुम हो फक़त या हम हैं या तुम हो॥

तुम्हें तो खूब देखा है बुतो अब उसको देखेंगे।
खुदा ना जाने कैसा होगा जब शाने खुदा तुम हो॥

अहा हा! तुम्हारी प्रेम-सुधाका पान करके मन असीम आनन्दका अधिकारी होता जा रहा है और क्षण-क्षण उसमें उस माधुरी मूरति साँवरी सूरतिके दर्शनकी उत्कट अभिलाषा उत्पन्न होती जाती है। लोभीमें यह रुचि कहाँ? प्रकृतिके गुलाम इस आनन्द-को कहाँ प्राप्त हो सकते है? प्यारेकी याद धन्य है कि नख-शिखतक भुलाये नहीं भूलती। उसके सर्वांगने मनको किस भाँति बाँध लिया है—

वह चितवनि वह सुन्दर कपोल द्युति,
वह दसननि छवि बिज्जुकी धरति हैं।
वह ओंठ लाली वह नासिका सकोरनिमें,
वह हावभावके यों कौतुक करति हैं॥
भनै 'मनीराम' छवि बरनि न सकै कोऊ,
छवि वह हेरि मुनि मनको हरति हैं।
वह मुसुकानि जुग-भौंहनि कमान द्युति,
वह बतरानि ना बिसारी बिसरति हैं॥

दर्शन दो !

मेरे मनहरण मधुर मदनमोहन ! जीवनाधार प्यारे राधारमण !! तुम कहाँ हो, जो दीखते हुए भी नहीं दीखते ? निकट तो हो, परन्तु हाथ नहीं आते। कहाँ खड़े मन्द-मन्द मुसकुराते हुए मन चुराते और हृदयपर साँप लहराते हो प्यारे ! अब तो आओ, अरे चितचोर ! शीघ्र आओ, मेरे सामने चले आओ, विलम्ब न करो। भला, इतना क्यों सकुचाते हो ? तनिक विचारो तो सही, कहीं अपनोंसे मुँह छिपाया जाता है ? तुमने यह जादूभरा कैसा विचित्र ढंग सीख लिया है मेरे दिलदार ! कुछ समझमें ही नहीं आता !

बेहिजाब[1] ऐसा कि हर ज़र्रेमें[2] जलवा[3] आशकार[4]।
तिस पै पर्दा यह कि सूरत आजतक देखी नहीं ॥

प्यारे ! यदि मुझसे रूठकर तुम्हें मुँह छिपाना ही है तो भला सँभलके छिपो, यह क्या कि तुम मुझे न देखो और दीखते रहो—

खूब परदा है कि चिल्मनसे[5] लगे बैठे हो।
साफ छुपते भी नहीं सामने आते भी नहीं ॥

ऐ मेरे अमूल्य माणिक ! देखो, मुझे छोड़कर तुम किसी योगीके हृदय-मन्दिरकी ओर न जाना । रोगी बन जाओगे वहाँ, उष्णताकी काल-कोठरीमें पवनतकको तरसोगे । यदि नहीं मानते, तो जाओ, पर याद रक्खो, तत्काल ही बाहर भाग आना पड़ेगा ! तुम्हारे सानन्द निवास और विहारके लिये मैंने परम रमणीक नवीन व्रज बसाया है । इस व्रजमें जहाँ मन चाहे विश्राम करो । कुछ कालतक इस विचित्र भूमिका निरीक्षण तो कर लो प्यारे वंशीवारे !

मन मेरो वृन्दावन जामें कालीदह आदि,
वंशीवट सेवाकुंज अमित विश्राम हैं।
मुख पुर मथुरा जहँ आवागमन नित्य रहै,
मस्तक पुर गोकुल जहाँ विहरत घनश्याम हैं ॥

---

१ परदा २ रेणु ३ प्रकाश ४ प्रकट ५ परदा ।

कंठ गोबरधन गिरिधारे गिरिधारी जहाँ,
नैन दास दोनों बरसाना नन्दगाम हैं—
ज्वाला व्रजभूमि यह शरीर देश नगर बसैं,
चाहे जहाँ रमौ जू तिहारे सब धाम हैं ॥

हे मनचातकके श्यामघन ! हे हृदयचकोरके पूर्ण चन्द्र ! हे दास-कंगालके अनन्तधन ! मैं बहुत देरसे तुम्हारी बाट देख रहा हूँ, अब तो शीघ्र ही प्रकट होकर अपनी दिव्य ज्योति तथा मुग्ध माधुरी मूरति साँवरी सूरतिकी चित्ततापहारी छटा दिखलाओ। मैं तो अब केवल तुम्हारे पादपद्मोंके ही दर्शनके लिये बैठा हूँ सरकार ! बहुत देर हो चुकी, अब मुझसे रहा नहीं जाता। बिना तुम्हे देखे मन किसी तरह नहीं मानता।

इक मिनटके लिये सरकार अब तो मिल जाते,
बहुत अरमान थे दिलमें वह सब निकल जाते।
जानबे दर[1] यह रहीं आजतक तकती आँखें,
कान आहटपै लगे हैं कि इधरसे आते ॥
जैसी गुजरी है जुदाईमें हमारे सरपर,
बैठकर अपनी कहानी वह तुम्हें समझाते।
तेरे बीमारकी है मर्जे इश्कमें यह खूराक,
खूनेदिल पीते हैं और लख्ते[2] जिगर हैं खाते ॥

---

१ द्वार २ टूक

आओ शरमाओ नहीं हम भी हैं वेदाम गुलाम,
बहुत दिन हो गये दिलदार ! अब तो तरसाते ।
बेवजह बेरुखी[1] क्यों इस कदर हमसे पाली,
क्यों भला रुक गये इस तरफको आते आते ॥
क्या कहे राधारमन ! हाल ज्वाला दिलका,
देखते आप तो सीनेसे चट लिपट जाते ॥

भक्तवत्सल ! तुम्हारा विरद है कि तुम जनके अवगुण-समुद्रको बूँद-सदृश सकुचा कर ही देखते हो और उसके तृणतुल्य गुणोंको पर्वत-सा मानते हो ! परन्तु ऐसी नीति बनाकर कभी किसीके लिये इसका व्यवहार किया भी या नहीं ?

नाथ तुम अपनी ओर निहारो ।
हमरी ओर न देखहु प्यारे निज गुन-गननि बिचारो ॥
जो लखते अबलों जन-औगुन अपने गुन बिसराई ।
तौ तरते क्यों अजामेलसे पापी देहु बताई ॥
अबलों तौ कबहूँ नहिं देखे जनके अवगुन प्यारे !
तौ अब नाथ नई क्यों ठानत बैठे मोहि बिसारे ॥
तुव गुन छमा दयासों मेरे अघ नहिं बड़े कन्हाई ।
तासों तारि देहु नँदनन्दन हरीचन्दको धाई ॥

१ प्रेमहीनता

सरकार ! मैं तुम्हारे लिये परम व्याकुल हूँ। आनन्दघन ! प्रेम-सुधा बरसाओ और तुरन्त रूपमाधुरीकी लावण्यता दिखलाओ। अब विलम्ब न करो ! कृपाकी भीख डाल दो झोलीमें और लुढ़कने दो इस शरणागतको अपने चारु चरणोमें !

माधव अब न अधिक तरसैये।
जैसी करत सदासे आये वही दया दरसैये॥
मानि लेहु हम क्रूर कुढंगी कपटी कुटिल गँवार।
कैसे असरन-सरन कहे तुम जनके तारनहार॥
आरत तुम्हें पुकारत छिन-छिन सुनत न त्रिभुवनराई।
अँगुरी डारि कानमें बैठे धरि ऐसी निठुराई॥

नाथ ! अब तो तुम्हारा यह असह्य दारुण वियोग नहीं सहा जाता। विरहाग्निकी ज्वालासे देह दग्ध होता जाता है। इस जलन-को मिटानेवाली ओषधि तो तुम्हारे दर्शनोंमें ही है। बस, एक बार मृतक-जियावनि-दृष्टिसे मेरी ओर निहारो और इस प्रज्वलित विरहाग्निको बुझा दो ! नहीं तो वह समय शीघ्र आनेवाला है, जब कि यह प्राण-पखेरू उड़ जायँगे।

थाकी गति अंगनुकी मति परि गई मन्द,
सूखि झाँझरी-सी ह्वै के देह लागी पियरान।
बावरी-सी बुद्धि भई हँसी काहू छीनि लई,
सुखके समाज जित तित लागे दूर जान॥

हरीचन्द रावरे बिरह जग दुःखमयो,
भयो कछु और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैनहू अथान लागे,
आओ प्राणनाथ अब प्राण लागे मुरझान॥

मै अपनी वियोग-वेदनाकी पीड़ा और किसे सुनाऊँ ? शोक तो यह है कि हृदयमें दर्द आरम्भ हो रहा है और तुम्हारा भी निवास वहीं है—कहीं ऐसा न हो वह तुमतक पहुँच जाय और तुम भी उसका अनुभव करने लगो। तुम्हे व्यथा-पीड़ित देखकर मुझे बड़ी पीड़ा होगी, प्राणप्यारे! मेरी यह भविष्य-पीड़ाकी आशंका और कौन समझेगा ? यह व्यथा-कथा तो केवल तुम्हीं सुन-समझ सकते हो। विषयानन्दी इसे क्या सुने-समझे ?

मनकी कासों पीर सुनाऊँ।
बकनो वृथा और पति खोनी सबै चवाई गाऊँ।
कठिन दरद कोई नहिं हरिहैं धरिहैं उलटो नाऊँ॥
यह तो जो जानै सोइ जानै क्योंकर प्रकट जनाऊँ।
बिना सुजान-शिरोमणि री केहि हियरा काढ़ि दिखाऊँ॥
रोम रोम प्रति नैन स्रवन मन जेहि धुनि रूप लखाऊँ।
हरीचन्द पिय मिलैं तो पग परि गहि पटुका समुझाऊँ॥

मेरे राधारमण! प्यारे अब मिल जाओ! अधिक न तरसाओ,

आओ, आओ, आओ। इस जलते हुए हृदयसे चिपटकर इसे शीतल करो, मेरी दुर्दशापर तरस खाओ नाथ ! अब मत विलम्ब करो !

प्यारे अब तो सही न जात।
कहा करौं कछु बनि नहिं आवत निसिदिन जिय पछितात॥
जैसे छोटे पिंजरामें कोउ परि पंछी तड़पात।
त्यों ही प्रान परे यह मेरे छूटनको अकुलात॥
कछु न उपाय चलत अति व्याकुल मुरि मुरि पछरा खात।
हरीचन्द खींचो काहू बिधि छाँड़ि पाँच अरु सात॥

मैं किसे देखकर दिलको धीरज दूँ ? सन्तोष और शान्तिका अवलम्ब कुछ भी तो नहीं दीखता श्यामसुन्दर ! अब तो पधारो, शीघ्र पधारो ! अरे निर्मोही, अब तो आ जाओ इन तरसीली आँखोंके सामने—

मुकटकी चटक लटक बिबिकुंडलकी,
भौंहकी मटक नेक आँखिनु दिखाइ जा।
ऐहो बनवारी बलिहारी मैं तुम्हारी मेरी
गैल क्यों न आइ नेक गाइन चराइ जा॥
'आदिल' सुजान रूप गुनके निधान कान्ह,
बंसीको बजाइ तन तपनि बुझाइ जा।
नंदके किसोर चितचोर मोर-पंखवारे,
बंसीवारे साँवरे प्यारे इत आइ जा॥

दुःखकी हद हो चुकी, अब मै किसी भी परीक्षाके योग्य नहीं रह गया। यदि तुम्हें यही करना था, तो पहले ही मुझे क्यों ऐसे दलवाला बनाया और क्यो स्वप्नमे मधुर-मधुर कोकिलकण्ठ सुनाकर मेरा चित्त चुराया, जो अब थाह बताकर नैराश्य-नदमें डुबो रहे हो।

दिलदार यार प्यारे दिलमें मेरे समा जा,
आँखें तरस रही हैं सूरति इन्हें दिखा जा।
चेरा हूँ तेरा प्यारे! इतना तो मत सता रे,
लाखों ही दुख सहा रे टुक अब तो रहम खा जा॥
दिलको रहूँ मैं मारे कबतक बता, ऐ प्यारे!
सूखे बिरहमें तारे पानी इन्हें पिला जा।
तेरे लिये ऐ मोहन! छानी है खाक बन बन,
दुख झेले सर पै अनगिन अब तो गले लगा जा॥

प्राणाधार! तुम्हारे वियोगमें सारी रात दिनके सदृश ही व्यतीत हो जाती है—तारे गिनते-गिनते ही सवेरा हो जाता है। मेरी वेदनाकी कोई तिथि तो निश्चय कर दो!

तरसत श्रवन बिना सुने मीठे बैन तेरे,
क्यों न इन माहिं सुधा-बचन सुनाइ जा।
तेरे बिन मिले भई झाँझरी-सी देह मान
राख ले रे, मेरे धाइ कंठ लपटाइ जा॥

हरीचन्द बहुत भई अब न सही जात कान्ह,
हा ! हा ! निरमोही ! मेरे प्राननि बचाइ जा।
कंठ लपटाय दया जीयमें बसाय ऐ रे,
ऐ रे ! निरदई ! नेक दरस दिखाइ जा ॥

प्यारे ! यह तो मै भी भलीभॉति जानता हूँ कि बिना तुम्हारी पूर्ण कृपा तथा असीम दयाके तुम्हारा साक्षात्कार नहीं होता। कोटि भॉति जप, तीर्थ, दान, यज्ञ करो, अनेक भाँति घटपटकी खटपटमें जीवन गॅवा दो, परन्तु शान्ति और सत्, चित्, आनन्दघन-की एक बूँद भी नहीं मिलती । जनके सन्ताप तो तभी दूर होते हैं जब तुम अपनी अमृतमयी 'मृतक-जियावनि' दृष्टिसे भोली-सी सूरत बनाकर अपने जनकी ओर इकटक हो निहारते हो । फिर तो सदाके लिये उसके दम्भ-दुःख-उलूक भाग ही जाते हैं और तुम मन्द-मन्द मुसकुराते वंशी बजाते दिखलायी देने लगते हो। परन्तु यह रहस्य तुम्हारी कृपाके अधीन है। बेचारे साधनमे यह सामर्थ्य कहाँ ?

यह तो गति है अटपटी झटपट लखै न कोइ।
जो मनकी खटपट मिटे तो चटपट दर्शन होइ ॥
तब लग या मन-सदनमें हरि आवैं किहि बाट।
निपट विकट जबलों जुटे खुलें न कपट-कपाट ॥

प्रियतम प्रभुका शुभागमन

अहा हा! प्यारे प्राणनाथ कृपालुने इस दीनपर दयाकी दृष्टि कर ही दी। धन्य है राधारमण तुम्हारे विरदको! क्या ही अलौकिक बाँकी झाँकी है। मुग्ध मनहरण रूपमाधुरीका क्या ही अवर्णनीय आनन्द है। आँखोंके सामने आते ही आनन्दसे विह्वल हो समस्त चञ्चल इन्द्रियाँ विमूढ-सी हो गयीं। वाह रे मोहन! मस्तानी चालसे मत्त गयन्द-गति लजाते, मनहरण मुरली बजाते, मन्द-मन्द मुसकुराते पीताम्बर फहराते, पग-नूपुर झमकाते, मोर-मुकुट चमकाते और श्यामघन-छवि चुराते हुए कैसी अलबेली छटा दरसाने लगे। अहा! वाणी इस छविका कैसे

वर्णन करे ? धन्य भाग्य, धन्य भाग्य ! प्राणाधार प्यारे तुम्हारे चरणोंमे इस तुम्हारे जनके असंख्य प्रणाम हैं—

लटकि लटकि मनमोहन आवनि ॥
झूमि झूमि पग धरनि भूमिपै गति मातंग लजावनि ।
गोखुर रेनु अंग अँग मंडित उपमा दग सकुचावनि ॥
नव घनपर जनु झीनि बदरिया सोभा-रस बरसावनि ।
बिगसनि मुखलौं कानि दामिनी दसनावलि दमकावनि ॥
बीच बीच घनघोर माधुरी मधुरी बेनु बजावनि ।
मुक्तमाल उर लसी छबीली मनु बगपाँति सुहावनि ॥
बिन्दु गुलाल गुपाल कपोलन इन्द्रबधू छवि छावनि ।
रुनुन झुनुन नूपुर धुनि मानो हंसनुकी चुहचावनि ॥
जँघिया लसत कनक कछनीपर पटुका ऐंचि बँधावनि ।
पीताम्बर फहरानि मुकुट छवि नटवर बेप बनावनि ॥
हलनि बुलाक अधर तिरछौंहें बीरी सुरँग रचावनि ।
ललितकिसोरी फूल झरनि या मधुर मधुर मुसुकावनि ॥

वाह रे मनहरण शृंगार ! तेरा जीवन भी आज प्यारेके शरीर-ललाम शोभाभिरामपर सज्जित होनेसे सार्थक हो गया ! धन्य वनमाल तेरे भाग्य, जो तू प्यारेके वक्षःस्थलपर विराजमान है । प्रियतम ! तुमने वड़ी ही कृपा की, जो इस नाचीजको अपूर्व देवदुर्लभ दर्शन-दान दिया, जिसके आनन्दमे डूबकर मन-मधुप चरण-

कमलके मधुर मकरन्दका साग्रह पान कर रहा है और नयनाभिराम घनश्याम! तुम्हारी अपार छवि-सुधा-निधिकी उत्ताल तरंगोंमें बह रहा है। मन क्या-क्या देखे? जहाँ जाता है वहीं रम जाता है। क्या ही सर्वांगकी शोभा है? इस मनोरम छबिपर तो बस '*अंग-अंगपर वारिये कोटि कोटि शत काम*' यही कहते बनता है।

माथेपर मुकुट देखि चन्द्रिका चटक देखि,
छबिकी छटक देखि रूप रस पीजिये।
लोचन बिसाल देखि गले गुंजमाल देखि,
अधर रसाल देखि चित्त चुप्प कीजिये॥
कुंडल हलनि देखि पलक चलनि देखि,
अलक वलनि देखि सरबस दीजिये।
पीताम्बर छोर देखि मुरलीकी घोर देखि,
साँवरेकी ओर देखि देखिबोई कीजिये॥

शरीर! आजसे मैं तुझे मल-मूत्रका पिण्ड कहकर तेरी निन्दा नहीं करूँगा क्योंकि तुझमें विराजमान जीव आज मेरे जीवनप्राण श्रीराधारमणजीका मुखड़ा अवलोकन कर धन्य हो रहा है, श्रीसाँवरे छोटेलालजीके मस्त मस्ताने हाव-भाव-कटाक्षका रसास्वादन कर रहा है और कन्हैया प्यारे केशवदेवके स्वरूपको देख-देखकर, हरिगोविन्द पुकारकर अपनी वियोग-ज्वालाको

बुझा रहा है। नेत्रो! तुम क्या देखते हो? इस मनभावन विचित्र छटाको अवलोकन करके सदाके लिये गहरी पूँजी इकट्ठी कर लो। ऐसा समय बार-बार नहीं मिलेगा। योगियोंको यह बाँकी झाँकी अनेक साधनोंद्वारा भी प्राप्त नहीं होती। शिव-ब्रह्मादि भी इसे खोजते फिरते हैं। देख लो, फिर देख लो, अबकी चूके पार नहीं मिलेगा—

मोहन बसि गयो इन नैननमें।
लोकलाज कुलकानि छूटि गई याकी नेह लगनमें॥
जित देखौं तित ही वह दीखै घर बाहर आँगनमें।
अंग अंग प्रति रोम रोममें छाय रह्यो तन मनमें॥
कुंडल झलक कपोलन सोहै बाजूबन्द भुजनमें।
कंकन कलित ललित बनमाला नूपुर धुनि चरननमें॥
चपल नैन भ्रकुटी बर बाँकी ठाढ़ो सघन लतनमें।
'नारायन' बिनु मोल बिकी हौं याकी नेक हँसनमें॥

नवलकिशोर चितचोर! आज यह चरणसेवक कृतार्थ हो गया। बड़ी ही कृपा की, जो इसे आज सौभाग्यपद दिया। प्रेमकी आकर्षण-शक्तिको बारम्बार धन्य है जो कि सरकारको कच्चे धागेमे ही बाँध लायी!

दिल साँचो लगो जेहिको जेहिसों तेहिको तेहि ठौर पठावतु है।
चलि हंस चुगे मुक्ताहलको अरु चातक स्वातिको पावतु है॥

कवि ठाकुर यामे न भेद कछू उरझावतको सुरझावतु है।
परमेसुरकी परतीति यही मिलो चाहत ताहि मिलावतु है॥

प्यारे! तुम तो सदासे ही सच्ची लगनसे आकर्षित होकर प्रकट होते आये हो। भक्तके प्रेमपाशमें बँधकर खिंच ही जाते हो। कई बार तो भक्तोंकी पुकार सुनकर तुम्हे अपना वाहन त्याग नंगे ही पॉव दौड़ना पड़ा है। ओ भावके भूखे भगवान्! तुम्हे साष्टाङ्ग प्रणाम है। किसीने सत्य कहा है—

कमल कब गये हे भ्रमरन बुलाइबेको,
रूखन पखेरू पर बेशनु मँडरात हैं।
चन्द्रमाकी चीठी कब गई ही चकोरनु पै,
घनके गरजिबेते दादुर चिल्लात हैं॥
मानसर गयो हो चलि कौन दिन हंसनु पास,
दीपक पतंग ज्योति चाहत अकुलात हैं।
ऐसे ही साधु कवि पंडित महानुभाव,
जहाँ जहाँ भाव देखें तहीं चले जात हैं॥

राधारमण! ऐसे प्रेम-भावको निभाना तुम्हारा ही प्रभाव है। दया तो तुम्हारा स्वभाव है। आर्तजनके टूटे-फूटे शब्द मुखसे सुनते ही तुम दिव्य धाममें तड़पने लगते हो—और तत्काल ही दौड़े चले आते हो। द्रौपदी, ध्रुव, गजेन्द्र, गीध इत्यादिके प्रसंगमें

तुमने ऐसा ही प्रत्यक्ष दिखलाया है। प्रह्लादसे तो तुम गिड़गिड़ाकर अपना अपराध क्षमा कराने लगे थे कि 'पुत्र! यदि मेरे आनेमे देर हुई हो और तबतक तुझको कष्ट पहुँचा हो, यह मेरा अपराध क्षमा कर बेटा प्रह्लाद! तेरी शोकार्त वाणीको सुनते ही मै मतवाला हो गया। जल्दीमें शरीर बनाना भी तो भूल गया, आधा मनुष्य और आधा पशु बन गया, मुझे तो शरणागत प्यारा है—भक्तको कभी मै भूलता नहीं। प्रत्येक क्षण अपने स्मरण करनेवालेको रटता रहता हूँ। मै सदा भक्त-प्रसन्नतामे ही प्रसन्न हूँ'—

मैं नित भक्तन हाथ विकाऊँ।
आठौं याम हृदयमें राखूँ पलक नहीं बिसराऊँ॥
भक्तनकी जैसी रुचि देखौं तैसोइ बेश बनाऊँ।
टारौं अपने वचन भक्त लगि तिनके वचन निभाऊँ॥
ऊँच नीच सब काज भक्तके निज कर सकल बनाऊँ।
रथ हाँकौं पग धोऊँ बासन माजौं छानि छवाऊँ॥
माँगौं नाहिं दाम कछु तिन्हतें नहिं कछु तिनहि सताऊँ।
प्रेमसहित जल पत्र पुष्प फल जोइ देवै सोइ पाऊँ॥
निज सरबस्व भक्तकौ सौंपौं अपनो स्वत्व भुलाऊँ।
भक्त कहै सोइ करौं निरन्तर बेंचै तो बिक जाऊँ॥

प्रार्थना

मदनमोहन ! मैं भक्तका तो पड़ोसी भी नहीं हूँ, परन्तु मेरे और भी तो बहुत-से नाते तुमसे हैं, किसी-न-किसी सम्बन्धसे तो तुम मुझपर अवश्य अनुग्रह करके ही रहोगे। मैंने तो मकड़ीके जालेकी नाईं नातोंका जाल ही बिछा रक्खा है। भला, मेरे इन सम्बन्धोंसे बचकर तुम कहाँ जा सकते हो ? एक न मानोगे तो दूसरे, तीसरेको तो मानना ही पड़ेगा।

तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी,
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप-पुंजहारी।
नाथ तू अनाथको अनाथ कौन मो सो,
मो समान आरत नहिं आरतिहर तो सो॥

ब्रह्म तू हौं जीव हौं, तू ठाकुर हौं चेरो,
तात मात गुरु सखा तू सब विधि हितु मेरो ।
मोहि तोहि नाते अनेक मानिये जो भावै,
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरण-शरण पावै ॥

हे कुञ्जविहारी ! इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी मै मूर्ख अभीतक तुम्हें भूला हुआ हूँ, इसका कारण तो मुझे यही ज्ञात होता है कि तुमने अपने अनन्त उपकारोंसे मुझे कुछ ऐसा पूर्ण विश्वास-सा दिला दिया कि जिससे मै बिल्कुल आलसी ही बन गया और अपने कर्तव्य-कर्मको भी भूल बैठा । यहाँतक कि, मुझसे अब कुछ याद करते ही नहीं बनता और न किसी कर्ममे ही निष्ठा-प्रवृत्ति होती है । करूँ भी तो क्यों करूँ ? मै भलीभॉति जानता हूँ कि नन्दनन्दन मेरी लाज तो जाने ही नहीं देंगे । यह भी जानता हूँ कि लाज जानेपर मेरी हँसी नहीं होगी, संसार राधारमणको ही हँसेगा । बस, इसी विश्वासपर सब कार्य धड़ाधड़ चलते जा रहे हैं । कर्म, ज्ञान, उपासना, योगके झंझटमें कौन पड़े ? औरोंसे आगे न सही, तो पीछे ही सही । मुझपर कृपा तो अवश्यमेव होगी, फिर होगी, फिर होगी '*अब तो निभायाँ सरेगी बॉह गहेकी लाज*', अपना तो सौदा बेदाम बनेगा । अमूल्य मणि बिना ही मूल्य प्राप्त होगी, होगी, निःसन्देह होगी ।

मैं तो हौं पतित, आप पावन-पतित नाथ !
पावन-पतित हौ तो पातक हरोइगे ।

मैं तो महादीन आप दीनबन्धु दीनानाथ,
दीनबन्धु हो तो दया जीयमें धरोईगे ॥
मैं तो गरीब आप तारक गरीबनके,
तारक-गरीब हो तो बिरद बरोईगे ।
मेरी करनी पै कछु मुकर ना कीजै कान्ह,
करुनानिधान हो तो करुना करोईगे ॥

दीनदयालो ! तुम तो आज काकतालीय-न्यायकी तरह अनेकानेक जन्मके बिछुड़े हुए मिल गये हो, तुम्हारी भेंट अब मैं कंगाल क्या चढ़ाऊँ ? एक मन-मणि थी वह तो तुम्हें प्रथम ही नामाक-मालामें वेधकर पहिना चुका जो तुम्हारे हृदयपर विराजमान है। रहा शरीर और उसकी सम्बन्धी वस्तुएँ, वे सब तुम्हारी ही दी हुई हैं ! जिन्हे देते मुझे लज्जा-सी प्रतीत होती है। हाँ, तुम्हारा वेदामका गुलाम बनकर जीवन गँवानेकी आज्ञा माँगता हूँ। यदि मुझे सरकारकी इतनी नौकरी मिल जाय तो मैं निहाल हो जाऊँ।

मेरे तो जीवन परियंत यह प्रतिज्ञा ज्वाल,
त्यागि या स्वरूपहिं अब और ना निहारौंगो ।
करनीवस जौन वेश जौन देश जाय बसौं,
तहाँ दिन रैन राधारमण ही पुकारौंगो ॥
भूलिके न हेरौं धन धाम काम वाम ग्राम,
और अब विचार नाहिं चित्तमें विचारौंगो ।

प्यारेकी माधुरी मनोहर मुसुकान हेरि,
जीवन धन तन मन हौं वार वार वारौंगो ॥

अब तो जिस विधि रक्खोगे, उसी विधि रहूँगा। दीन-दयालो! मैं सेवक हूँ। स्वामीकी आज्ञा पालन करना मेरा धर्म है। प्राणनाथ! अब तो तुम्हारे ही अधीन हूँ, तुम्हारी प्रसन्नतामे ही प्रसन्न हूँ।

सुनिये बिटप प्रभु पुहुप तिहारे हम,
राखिहौ हमैं तो शोभा रावरी वढ़ाइहैं।
तजिहौ हरषि कर बिलग न सोचें कछू,
जहाँ जहाँ जैहैं तहाँ दूनो यश गाइहैं॥
सुरनु चढ़ैंगे नर शिरनु चढ़ैंगे पर,
सुकबि अनीस हाथ हाथमें बिकाइहैं।
देशमें रहैंगे परदेशमें रहैंगे काहू,
वेषमें रहैंगे तहाँ रावरे कहाइहैं॥

प्यारे! अब कृपा करके इस सेवककी इस कुटिल हृदय-कुटिया-का तो निरीक्षण कर लो, देखो, तुम्हारे ही जैसी कैसी वक्र और तिरछी कुटिया तुम्हारे लिये बनायी है इस गुलामने! क्योंकि—

दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगीलाल।

और नाथ! इस मेरे मनभवनमें सदैवसे ही घोर अन्धकार भरा

है, यदि तुम गोपबालोंसे भागकर आये हो तो सीधे ही चले आओ इस काजलकी कोठरीमें, यहाँ हाथ मारा भी नहीं दीखता है। बरसों पड़े रहना, किसीको पता भी नहीं चलेगा, यहाँतक कि मै स्वयं भी नहीं देख सकूँगा। यदि अन्धकारमें मनको विक्षेप हो तो यह भलीभाँति जान रक्खो, तुम्हारे आते ही प्रकाश भी हो जायगा, क्योंकि सूर्य-चन्द्र तुम्हारे नेत्र हैं और यह समस्त विश्व तुम्हींसे प्रकाशित हो रहा है। तुम्हारी अद्भुत छटाके दीपक ही प्रत्येक अन्तःकरणमें देदीप्यमान हो रहे हैं। प्यारे प्राणाधार! आज इस अनाथके अँधेरे घरमें भी उजियाला कर इसे भी चमका दो प्रभो!

या अनुरागी चित्तकी गति समुझे नहिं कोय।
ज्यों ज्यों डूबे श्यामरँग त्यों त्यों उज्ज्वल होय॥

माधुरे मोहन! अब देर क्यो कर रक्खी है? प्यारे! मेरे तो जो कुछ भी हो तुम्हीं हो, कृपा करो और इस मन-भवनमें निवास करो। बहुत नहीं तो सुबह-शाम एक-एक घण्टेको तो विश्राम कर ही लिया करो।

शुभ शान्तिनिकेतन प्रेमनिधे मन-मन्दिरके उजियारे हो।
इस जीवनके तुम जीवन हो इन प्राणनके तुम प्यारे हो॥
पितु मातु सहायक स्वामि सखा तुम ही इक नाथ हमारे हो।
जिनके कछु और अधार नहीं तिनके तुम ही रखवारे हो॥

प्राणप्यारे! मुझे अपना ऐसा गाढ़ा प्रेम दो कि मैं तुम्हे रात-दिन देख-देखकर पागल होकर रोया करूँ और अपने इस सत्य स्नेहीको दारुण वियोगकी अग्निमें भी कभी-कभी जलाया करो, जिससे कि यह सच्चा मस्ताना आशिक (वैष्णव) बन जाय। विरहाग्निमें अपने चित्तको भून डाले और रक्तकी प्रेम-मय मदिरा बनाकर मस्त हो जाय। सब साधनोंका फल, बस विरहाग्निसे ही प्राप्त हो जाय।

काम कुरंग औ क्रोध कबूतर ज्ञानके बानसों मारि गिराये।
नेहको नोन लगाय भली विधि सत्यकी सींकमें आनि पुवाये॥
पंचक मारि करे कोइला फिर योगकी आँचसों आनि तपाये।
या बिधि लाइ बनाइके खाइ तो वैष्णव होत कबाबके खाये॥

क्योंकि नाथ! वियोग और विक्षेप भी तो तुम्हारी महान् कृपासे ही प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार वर्षा-वसन्तके अतिरिक्त वृक्षकी जड़ और महीनोंमें नहीं बढ़ती है; चाहे जितना जल डालो, वृक्ष नहीं बढ़ता। इसी प्रकार विक्षेप और वियोगमे प्रेम-वृक्षकी जड़ गहरी गड़ती जाती है और उत्सुकताके पत्ते निकलने लगते हैं—

हम तेरे इश्कमें श्याम बहुत दिन भटके।
अब हमें मिला तू सनम खुले पट घटके॥

किये रंजो अलम मंजूर ज़रा नहिं भटके।
सब दहशत दिलकी निकल गई छँट-छँटके॥
कर लाख वजाके सनम दिये तूने झटके।
पर गिरे न हरगिज़ क़दम पकड़ हट-हटके॥
कई बार गया सर तेरे इश्कमें कटके।
फिर पाया हमने नाम तुम्हारा रटके॥
जब नाम बनाकर फाँद जानकर लटके।
तब मिला हमें तू सनम खुले पट घटके॥

नाथ ! मैं यह कभी नहीं कहता कि तुम मुझे मानुषिक सद्भाव प्रदान करो। शिष्टाचार और सभ्यताका पात्र तो तुम अपने किसी और सेवकको बनाना। मै मूर्ख ही अच्छा हूँ।

बना दो बुद्धिहीन भगवान॥
तर्क-शक्ति सारी ही हर लो हरो ज्ञान-विज्ञान।
हरो सभ्यता-शिक्षा-संस्कृति नव्य जगतकी शान॥
विद्या-धन-मद हरो, हरो हे हरे ! सभी अभिमान।
नीति-भीतिसे पिंड छुड़ाकर करो सरलता दान॥
नहीं चाहिये भोग योग कछु नहीं मान सम्मान।
ग्राम्य-गँवार बना दो, तृण सम दीन निपट निर्मान॥
भर दो हृदय भक्ति-श्रद्धासे करो प्रेमका दान।
प्रेमार्णव ! निज मध्य डुबोकर मेटो नाम-निशान॥

मेरी तो हार्दिक इच्छा है कि मुझे तो उन पशु-पक्षियोंके सदृश प्रेमके भावोंसे भरा भावुक बनाओ, जिससे कि मै तुम्हे त्यागना ही न जानूँ और तुम्हींसे असीम प्रेम मानूँ। अहा हा ! पशु-पक्षियोंके भावोंको धन्य है। प्राण चाहे जाय परन्तु प्रियतमका वियोग न हो—

सर सूखे पंछी उड़ें औरन सरन समाहिं।
दीन मीन बिनु नीरके कहु रहीम कहँ जाहिं॥
मीन वियोग न सहि सकै नीर न पूछै बात।
तू ताकी गति देखि ले रति न घटै दिनरात॥
मीन मारि जल धोइये, खाये अधिक पियास।
बलिहारी वा चित्तकी मुयेहु मीतकी आस॥
फूटे नैन परागसों कंटक कटो शरीर।
तहूँ मधुपने ना तजी निज गुंजार गँभीर॥
काठ काटिके घर करै लखौ नेहकी बात।
प्रेम-गन्धमें अंध ह्वै मधुप कंज बँधि जात॥
चातक घन तजि दूसरहि जियत न नाई नारि।
मरत न माँगो अर्घजल सुरसरिहूको वारि॥
दीपक पीर न जानई पावक बरत पतंग।
मन तो तेहि ज्वाला जरो चित न भयो रस भंग॥

प्यासी रहति समुद्रमें मुखको राखति मूँद ।
हियो फारि मुखमें भरति सीप स्वातिकी बूँद ॥
इत-उत चित चितवत नहीं भरे नदी नद ताल ।
मानसरोवरसों पगो जीवन-मरन मराल ॥
पशुकी जाति कुरंगते प्रीति नादसों जोरि ।
प्रनपर डारो वारिके तन तिनुका सो तोरि ॥
देखो करनी कमलकी कीनो जलसों हेत ।
प्रान तजो प्रेम न तजो सूखो सरहि समेत ॥
लगी लगन छूटै नहीं जीभ चोंच जरि जाइ ।
मीठो कहा अंगारमें जाहि चकोर चबाइ ॥
चिनगी चुगत चकोर यों भस्म होय यह अंग ।
लावें शिव निज भालपर मिलै पीय ससि-संग ॥

सुजानशिरोमणि श्यामसुन्दर ! हे महादानी श्रीराधारमण ! बस, मेरी भी अब यही हार्दिक आकांक्षा है कि मुझे भी शीघ्र उस मिट्टीमें मिल जाना चाहिये, जिस मेरी मिट्टीके कुम्हार पात्र बनावें, गोपबालाएँ उसमें दही जमावें और उस दधिको पात्रसहित तुम मुँहसे लगाये खाते भागते जाओ और मैं मिट्टीका पात्र बन तुम्हारे ललाम होठोंका मधुर मधुरामृत पान करता रहूँ । नाथ ! मैं भी कृतार्थ हो जाऊँ——

पसेमुर्दन[1] बनाये जाँयेंगे सागर[2] मेरी गिलके[3] ।
लँबे[4] जानोंके[5] बोसें[6] खूब लेंगे खाकमें मिलके ॥

प्यारे मुरलीमनोहर ! मुझमें प्रेमका तो अंशांश भी नहीं, यह हृदय तो अवगुणोंका अगाध आगार है—दुष्कृत्योका दरिया भरा है इसमें । परन्तु अब आजसे मुझे उसका ज़रा-सा भी भय नहीं । क्योंकि सरकार ! तुम अपने श्रीमुखसे स्वयं कह चुके हो—

सन्मुख होत जीव मोहि जबहीं ।
कोटि जन्म अघ नासों तबहीं ॥

मेरे सच्चे सरकार ! तुम्हारी प्रेमनीति एक-से-एक बढकर दीनोंके पालनमें पूर्ण पटु है फिर अपनी ओर निहारकर मुझपर अगाध प्रेम क्यो नहीं करोगे ?

औगुन जो गनिहौ प्रभु मोर नहीं गनि पैहौ गयन्दउधारी ।
है गुन एकहु ना गरुओ जिहिसे परसन्नता होय तिहारी ॥
पय रस एकहि पारस गंग वड़े अपनावत दोष त्रिसारी ।
राखहु या रघुराजकी लाज दयानिधि आपनि ओर निहारी ॥

नाथ ! अब इस अपने अबोध चाकरके असीम अपराधोंको क्षमा करो और दयाका दान दो । तुम समर्थ और न्यायी हो, मेरी धृष्टतापर ध्यान न दो दयामय !

---

१ मरनेके पश्चात् २ प्याले ३ मिट्टी ४ होठ ५ प्यारे ६ चुम्बन ।

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो ।
समदरसी है नाम तिहारो सोइ लखि पार करो ॥
इक नदिया इक नार कहावत मैलो नीर भरो ।
दोनों मिलि जब एक धार भइ सुरसरि नाम परो ॥
इक लोहा पूजामें राखत इक घर बधिक परो ।
सो दुबिधा पारस नहिं मानत कंचन करत खरो ॥
इक माया इक जीव कहावत सूरश्याम झगरो ।
अब याको निर्बाह करौ प्रभु नहिं प्रन जात टरो ॥

श्यामसुन्दर ! वास्तवमें तो मुझमें कोई ज्ञान ही नहीं, मैं तो सामान्य पठित-मूर्ख हूँ। परन्तु मुझे अपनी यह अभिमानभरी ओछी-सी जानकारी ही महान् कष्ट दे रही है। तुम्हारे ध्यानमें अनेकों 'अगर-मगर परन्तु-किन्तु' की शङ्का उठाती रहती है। प्यारे ! अब तो मुझे अपना ही मस्ताना दीवाना बना लो और जो कुछ जानता हूँ, वह कृपा करके भुला दो। तुम्हारे सिवा और कुछ ज्ञात ही न रहे !

आजलौं जो देखो सुनो पढ़ो गुनो जीवनभरि
मेरे घनश्याम मेरे चित्तसों भुलाइदै ।
तेरे अवलोकनमें शङ्का जो न उठै फेरि
ऐसो महाघोर मोहि मूरख बनाइदै ॥

बिसरि जाँइ राग साज धुनि स्वर ताल सम
जो पै मन-मन्दिरमें बाँसुरी बजाइदै।
छको फिरौं रूपरस माधुरीको पानकैके
प्रेमी मतवाला तू ज्वालाको बनाइदै॥

मुझे अब सांसारिक सुखकी नाममात्र इच्छा नहीं, मै तो अपने मानव-जीवनकी सच्ची कसौटी दुःख ही तुमसे माँगता हूँ, क्योंकि दुःख ही मनुष्यको सुमार्गकी सीढ़ीपर चढ़ाता है, इसलिये नाथ! मुझे दुःखकी अमूल्य मणि दो जिससे कि मैं रात-दिन सानन्द तुम्हारा कीर्तन करता रहूँ, मुझे वह दर्द दो कि जिसकी कसक कभी बन्द ही न हो; ऐसा काँटा लगाओ कि जो हरदम ही खटकता रहे और मै श्वास-श्वासपर आपको टेलीफोन करता रहूँ। घोर दुःख भी तो तुम्हारी महान् दयासे ही प्राप्त होता है। वास्तवमें सत्य विश्वासकी जड़ दुःख ही है—अवलम्बका बीज दुःख-हीसे प्राप्त होता है।

सुखके माथे सिल पड़ो (जो) नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी (जो) पल पल नाम रटाय॥

प्राणप्यारे! दुःख तो दो परन्तु उसके साथ ही अटल विश्वास भी स्वभावमें दो, जिससे मै तुम्हें भूल ही न जानूँ। सारे भ्रम-शोक हृदयसे मिटा दो। सब शङ्काओंका समाधान कर दो।

बस, तुम्हारे इस भिक्षुकको तो यही भीख चाहिये। मन एकाग्र होकर तुम्हें देखे और खूब प्रेमसहित पहिचाने। तुमको ही अपना सर्वस्व माने और फिर कुछ भी न जाने। केवल तुम्हारे ही दर्शनकी प्रतिज्ञा ठाने और अपनी विचित्र दशा बना ले और उसमें तुम्हींको पा ले—

जाको मन लागो गुपालसों ताहि कछू न सुहावै।
लैके मीन दूधमें राखो जल बिनु सुख नहिं पावै॥
जैसे शूरिमा घायल घूमे पीर न काहू जतावै।
जैसे सरिता मिलति सिन्धुमें लौटि प्रवाह न आवै॥
ज्यों गूँगो गुड़ खाय लेतु है मुखसों स्वाद न गावै।
तैसेहि सूर कमल मुख निरखै चित इत उत न चलावै॥

बस, आठो याम मै तुम्हारे ही नख-शिख शृंगारको निहारता रहूँ और अपने मनको तुम्हारे रोम-रोमकी रूपमाधुरीकी अमृत-मयी चाशनी चखाता रहूँ—जिससे वह अपनी सारी चञ्चलता भूल जाय। यदि भागकर संसारमें चला भी जाय तो तत्क्षण ही प्रेमकी प्रबल पिपासासे व्याकुल हो तुम्हारे चरण-कमलोंमें आकर टक्कर खाये। मेरे लड़ैते मन! देख कहीं भी मत जा—मैंने तेरे लिये कैसा अद्भुत दृश्य सम्मुख खड़ा कर दिया है।

मन है तो भली थिर ह्वै रहु तू प्रभुके पद-पंकजमें गिरु तू।
कवि सुन्दर जो न स्वभाव तजै फिरिवोई करै तो यहाँ फिरु तू॥

लकुटीपर मोर परवापर ह्वै मुरलीपर ह्वै भ्रकुटी भ्रमु तू।
इन कुण्डल लोल कपोलनमें घनसे तनमें घिरिके रहु तू॥

हे भक्तवत्सल यशोदानन्दन! मैंने चारो ओर भाग-दौड़कर देखी, सब रंग रँग देखे, अनेक पाखण्ड और दम्भोसे संसारको धोखा देकर रोटी खा देखी, अनेक मत-मतान्तर और शत्रु-मित्रोंके भाव छान देखे, बड़े-बड़े पोथा-धोतावालोको 'जय नारायण' करके उनका सत्सङ्ग कर देखा, परन्तु क्या कहूँ '*चाटत रहो स्वान पातर ज्यों कबहूँ न पेट भरो*' मनको विश्राम और शान्ति कहीं प्राप्त नहीं हुई। जहाँ गया वहाँ अन्तमें फूटा ढोल ही पाया।

प्यारे तुम विनु कहुँ सुख नाहीं।
भटको बहुत स्वाद रस लम्पट ठौर-ठौर जग माहों॥
प्रथम चाव करि वहुत प्राणप्रिय जाय जहाँ ललचाने।
तहँसे फिर ऐसो जिय उचिटो आये वहुरि ठिकाने॥
जित देखौं तित स्वारथहीकी निरस पुरानी वातें।
अतिहि मलिन व्यौहार देखिके घिन आवति है तातें॥
हीरा जो समझो सो निकसो कॉचो कॉंच पियारे।
या व्यवहार 'नफा पाछे पछितानो' कहत पुकारे॥
सुन्दर चतुर रसिक अरु नेही जानि प्रेम जित कीन्हो।
तित स्वारथ अरु कारो चित ही भली भाँति लखि ली

जानत भले तुम्हारे बिनु सब बादहि बीतत स्वासैं।
हरीचन्द नहिं छुटत तहूँ यह महा मोहकी फाँसैं॥

हे प्रणतपाल! अब ऐसी कृपा करो कि तुम्हारे अतिरिक्त मुझे कभी अन्य कोई अवलम्ब ही न हो! किसी प्रकार भी तुम्हारी स्मृति चित्तसे न भूले। प्यारे, भजनकी क्षुधा और दर्शनकी तृषा बढ़ा दो, मैं जबतक तुम्हारे गुण न गाऊँ तबतक अन्न-जल ही न खाऊँ। तुम्हारे प्रेमोद्गार ही सदैव चित्तमें उठें, जिनसे मैं पल-पलमें बावला होता जाऊँ और आठों पहर सर्वथा तुम्हारी ही यादमें मस्त रहूँ।

जाउँ जहाँ तहँ त्यागि तुम्हें,
धन धाम न काम न वाम सुहावै।
नैन निहारि निहारि थकें,
दिन रैनि रटे रसना सुख पावै॥
मोहन तू मन मंदिरमें,
मुसुकायके माधुरि बेणु बजावै।
सोवत जागत देश विदेशहु,
ज्वाल नहीं तुमको बिसरावै॥

मोहन मुरारे! वह कूक भर दो जो कि कोकिल बनकर प्रत्येक स्थानमें 'तू-ही-तू' कूकता फिरूँ, न कहीं कुछ देखूँ, न किसीकी कुछ सुनूँ—जहाँ देखूँ वहाँ बस तुम्हें ही देखूँ—

सुनौं न काहूकी कहूँ कहौं न अपनी बात।
नारायण या रूपमें मगन रहौं दिनरात॥
नारायण भूलौं सबै खान पान विश्राम।
मनमें लागी चटपटी कब हेरौं घनश्याम॥
देह गेहकी सुधि नहीं टूटि जाय जग प्रीति।
नारायण गावत फिरौं प्रेम-भरे रसगीत॥

प्यारे! तुम भावावेशमें मुझसे रूठो और मै तुम्हारे चरण-कमलोंको मस्तक नवाये हुए बारम्बार प्रार्थना करके तुम्हे मनाऊँ और सरकारपर बारम्बार वारी जाऊँ। मन और उसकी सहचरि इन्द्रियाँ तुम्हारे प्रेममें तल्लीन हो, गद्‌गद स्वर, दोनो हाथ बाँधे, मस्तक नवाये, रोमाञ्च खड़े किये, नेत्रोंसे अश्रुपात करता हुआ यह दृढ़ प्रतिज्ञा करूँ—

फूटि जाइँ नैन जो पै और को निहारैं।
वाणी नसि जाय राधारमण ना पुकारैं॥
तन धन मिटि जाइ ज्वाल तुम्हें यदि बिसारैं।
भूलिके न जाइ हाथ और पै पसारैं॥

भला विश्वमें कोई क्या दे सकता है? सभी तो कौडी-कौड़ीके मुहताज हैं और तुम्हारे दरके भिखारी हैं। जब मैं स्वयं अपने द्वारपर आये हुए अभ्यागतको दाने देनेमे ही **मुँह फेर**

लेता हूँ तो फिर मुझ-ऐसे दानीको (यदि तुम्हारे द्वारका भिखारी बनूँ और कुछ माँगूँ) कहीं क्या मिल सकता है? प्यारे! इस कारण मैं तुमसे भी कुछ नहीं माँगता। यदि बिना याचनाके कुछ मिले भी तो उसे कहाँ रक्खूँ? बस, माँग है तो इस आर्त भिक्षुककी यही कि इसे प्रेमकी भिक्षा मिले।

आशिक[१] जहाँमें दौलत[२]ो इक़बाल[३] क्या करे।
मुल्को मकान तेग़[४]ो तबर[५] ढाल क्या करे॥
जिसका लगा हो दिल वह ज़र[६]ो माल क्या करे।
दीवाँना[७] चाहे हश्मत[८]ो अजलाल[९] क्या करे॥
बेहाल हो रहा हो तो वह जाल[१०] क्या करे।
गाहक ही जो न लेवे तो दल्लाल क्या करे॥

प्यारे लला! बस, मुझे तो तुम ही माँगे मिल जाओ और कोई याचना और कामना मुझे नहीं, अपने तो हीरालाल तुम्हीं हो, अपनी अनेक जन्मोंकी चाँदी इसीमें है, तुम तो लाड़ करनेके योग्य हो, काम कराने योग्य कहाँ हो?

जो माँगे पाऊँ विधि पाहीं। राखौं तुम्हें नैनके माहीं॥

दानिशिरोमणि! तुमहीसे पाकर चराचर जीव सुखी होते

---

१ प्रेमी २ धन ३ ऐश्वर्य ४ तलवार ५ कुल्हाड़ी ६ सोना ७ पागल ८ दौलत ९ पद १० फन्दा।

हैं। तुम्हारी ही देनसे अनेकों धनवान् कहा रहे हैं। प्यारे ! सत्य है—

> भिक्षुकसे भिक्षा क्या माँगौं,
> है किस हेतु दानका दान।
> कमी नहीं है प्रभु दानीके,
> उससे माँगि होंहुँ धनवान॥

दीनदयालु महादानी ! आर्तके आरतिहरण तुम ही तो हो। धन, विद्या, बल, ऐश्वर्य—यह तुम्हारे कमलनेत्रोंके इशारे हैं। जब स्वयं ही कृपा करके मिलोगे तो यह वेचारे कहाँ छोड़कर जा सकते है ?

> दीनको दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
> जासों दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ॥
> सुर नर मुनि असुर नाग साहव तो घनेरे।
> तौलौं जौलौं रावरे न नेकु नयन फेरे॥
> त्रिभुवन तिहुँकाल विदित वदत वेद चारी।
> आदि अंत मध्य नाथ साहवी तिहारी॥
> तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।
> सुनि सुभाव शील सुजश जाँचन जन आयो॥
> पाहन पशु विटप विहँग अपने करि लीन्हे।
> महाराज दशरथके रंक राय कीन्हे॥

तू गरीबको निवाज हौं गरीब तेरो।
बारेक कहिये कृपालु तुलसिदास मेरो॥

सरकार! धनसे तो आजतक किसीकी तृप्ति होते नहीं देखी है–तृष्णा तो कभी सन्तुष्ट होने ही नहीं देती। धन लालचका भण्डार बना ही देता है और तुम फिर उसके परदेमे छिप ही जाते हो, और लोभकी भूख बढ़ जाती है।

बड़े हैं को[१]हो सहरा[२] भी मगर दामन[३] पसारे हैं।
उन्हें भी प्यास लगती है जो दरियाके किनारे हैं॥

प्राणनाथ! यदि तुम्हारी देनेकी ही रुचि है, तो मुझे मेरे इस पचास सालके जीवनमें सौ करोड़का धनी बना दो। वह ऐसे कि पचास हजार नाम नित्य लेनेकी तृष्णा अचल कर दो। इस प्रकार एक मासमें पन्द्रह लाखका खजाना मेरे पास हो जायगा। एक सालमे एक करोड़ अस्सी लाखकी पूँजी हो जायगी। उपर्युक्त जीवनमें मैं सौ करोड़का कुबेर–भण्डारी–बन जाऊँगा। नाथ! मुझे अपने इस सोलह नामके निम्नलिखित महामन्त्रकी तीस मालाएँ प्रतिदिन जपनेकी सामर्थ्य दो। इससे बढकर तुम्हारा कोई निष्काम मन्त्र नहीं। तुम उसीको प्रत्यक्ष देखनेको मिलोगे, जहाँ इस क्रियाके द्वारा तुम्हारा नाम-धन कमाया जाता होगा और यह शब्द सुनायी देते होंगे—

१ पर्वत २ जंगल ३ अंचल।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

प्राणवल्लभ श्रीराधारमण! तुमने अपनी जादूभरी निगाहोंके तार और मन्द-मन्द मुस्कानकी पाशसे मेरे मनको धीरे-धीरे बाँधा था। मुझे धोखेमें बॉधनेपर तुम कोई ऐसा फन्दा भूल गये कि उलटे स्वयं ही बँधकर डोरका सिरा मेरे हाथमें दे बैठे। अब ऐसी दशामें मैं अपने बन्धन छुड़ानेकी तो तुमसे प्रार्थना कर नहीं सकता। परन्तु न मालूम तुम बॅधनेपर भी कभी-कभी क्यो दाव देकर भाग जाते हो। भागकर छूट भी पाते नहीं—फिर खिंच आते हो परन्तु टेव नहीं छोड़ते। बहुत बार ऐसा कर चुके हो, अब तो इस अपने कैदीके कैदी-कोतवाल! मुझे छोड़कर कहीं मत भागो। तुम मुझे पकड़े रहो और मै तुम्हे दोनो हाथोंसे पकड़े तुमपर ही पहरा देता रहूँ। मेरे नेत्रभवनमे ही बन्द रहो या मनकी काल-कोठरीमे पड़े बाँसुरीमे सुर भरते रहो।

मोहन राखौं नैनमें पलक बन्द करि लेहुँ।
ना मैं देखहुँ और को ना तोहि देखन देहुँ॥

प्यारे! तुम मुझमें रम जाओ और मैं तुममे समा जाऊँ। हम-तुमका नाम ही मिट जाय। द्वैत-संकल्प ही न रहे, तुमसे रात-दिनकी छेड़-छाड़ ही छूट जाय। बस, फिर क्या है, आनन्द-ही-आनन्द हो जाय—

मोहि मोहि मोहनमयी हि मन मेरो भयो
हरीचन्द भेद ना परत कछु जान है।
कान्ह भये प्रानमय प्रान भये कान्हमय
जियमें न जानि परै कान्ह है कि प्रान है॥

अहा हा! इस अभागेको श्रीजगज्जननी राजदुलारी श्री-वृषभानुकिशोरीका यही मनोरंजक दृश्य स्मरण होता है जो कि वे साक्षात् करके दरसा चुकी हैं।

श्याम श्याम रटत राधे आपुहि श्याम भई।
पूँछति फिरि अपनी सखियनुसों प्यारी कहाँ गई॥
वृन्दावन-वीथिन जमुना-तट श्रीराधे-राधे-राधे।
चतुर सखीं यह दशा देखिके रहीं सकल मौन साधे॥
गरुई प्रीति कहा न करावै क्यों न होय गति ऐसी।
कह भगवान हित रामराय प्रभु लगन लगै तो ऐसी॥

प्राणाधार! यह प्रार्थना स्वीकृत कर लो। नहीं तो तुम जहाँ जाओगे वहाँ कुछ-न-कुछ बन्धनमें अवश्य आओगे। कोई भी तुम्हे वेकार नहीं बैठने देगा, कोई रथ हँकायेगा, कोई वर्तन मँजायेगा, कहीं गौ चरानी पड़ेगी, कहीं द्वारपाल बनोगे, कोई जूँठन उठवायेगा, कोई कुम्भक-रेचक-पूरककी चरखीमें चढ़ाये-उतारेगा, कहीं किसीके यहाँ वर्षों वन्द रहना पड़ेगा, इससे तो

यही अच्छा है कि तुम मुझमें समा जाओ, मै तुमसे निभाऊँ और बार-बार वारी जाऊँ और क्षीर-नीर बन जाऊँ—

'दास' परस्पर प्रेम लखौ गुण क्षीरको नीर मिले सरसातु है।
नीर बिकावत आपने मोल जहाँ जहँ जायके क्षीर विकातु है॥
पावक जारन क्षीर लगै तव नीर जरावत आपनो गातु है।
नीरकी पीर निवारन कारन क्षीर घरी ही घरी उफनातु है॥

नाथ! इस प्रकार भी यदि साथ रहोगे तो यह अल्प विनश्वर जीवन कृतार्थ होकर आनन्दमय वन जायगा। प्यारे! इतना साथ निभाओ कि मै हरदम पास रहनेपर भी तुम्हारे लिये इस प्रकार व्याकुल ही बना रहूँ—

बाहर जाऊँ तो बाहर ही घर आऊँ तो मेरे संग लगेहीं।
भौनके कोनमें जाइ छिपों हरि पैठि रहैं हियमें पहिलेहीं॥
नींद करै नकमानी जवै छिन ही छिन आवत हैं सपनेहीं।
सोवत जागत रैनि दिना मनमोहन मोहि तो चैन न देहीं॥

या यो—

श्याम मोरे ढिगते कबहुँ न जावे।
कहा कहूँ सखि गैल न छाँडै, जित जाऊँ तित धावे॥
गाइ दुहत मोरे गोदमें वैठे, धार-दूध पी जावे।
दही मथत नवनी लेवे हित, मटकी माँहि समावे॥

हे व्रजभूषण ! मैं तो तुम्हें पाकर कृतार्थ हो गया। सब प्रकार सन्तुष्ट हो गया, मनसे सारी वासनाओंके निवासका विनाश हो गया। लघु मुखसे तुम्हारा गुणानुवाद कहाँतक गा सकूँ ? जब शेष, गणेश, महेश, दिनेश ही शारदासहित इस विषयमें मूक हैं तो इस पापाचारीकी क्या सामर्थ्य है ? धन्य है ! धन्य है ! प्राणनाथ ! बड़ी ही कृपा की जो कि तुमने इस डूबतेको उबार लिया—

पाप हरे परिताप हरे तन पूजि भो हीतल शीतलताई।
हंस करो बकसों बलि जाहुँ कहाँ लौं कहौं करुणा अधिकाई॥
काल बिलोकि कहै तुलसी उरमें प्रभुकी परतीति अघाई।
जन्म जहाँ तहँ रावरे सों निबहै भरि देह सनेह सगाई॥

नयनोंके तारे मन-मन्दिरके उजियारे ! इसमें कुछ तुमको भी टोटा नहीं है और मेरा भी जन्म-जन्मका लाभ है ! बस, श्रीमुखसे एक बार कह दो न कि तुम्हारी निम्नलिखित प्रार्थना हमें स्वीकार है—

बोलो करै नूपुर श्रवणनुके बीच सदा,
मन मेरो पगतल माँहि बिहरो करै।
बाजो करै बंशी ध्वनि पूरि रोम-रोम प्रति,
मन्द मुसुकानि मन मेरो हरो करै॥
हरीचन्द चलनि मुरनि बतरानि छबि,
छाई रहै मेरे युग-दृगनु भरो करै।

प्राणहुसे प्यारो रहै, प्यारे तू सदा ही प्यारो,
पीतपट हीय बीच मेरे फहरो करै ॥

जीवनधन ! मै किस-किस भाँति क्या-क्या कहूँ ? तुम्हें जो कुछ अच्छा प्रतीत हो, वही दो। क्योंकि तुम अन्तर्यामी हो। भला यह तुच्छ जीव अपना दीपक-प्रकाश सूर्यके सम्मुख क्या दिखला सकता है ? अब तो यह सब प्रकार चरण-शरण है। इसकी लाज सब प्रकार तुम्हींको है--

अब तो यदुनाथ लाज हाथमें तिहारे।
दोषदलन दीनबन्धु देवकी-दुलारे ॥
दुःखहरण विश्वभरण राधारमण प्यारे।
तुम्हें त्यागि जाऊँ कहाँ मोर-मुकटवारे ॥
तात सखा मातु-पिता नाथ तुम हमारे।
लागति अति लाज जात और द्वार प्यारे ॥
माँगै वर ज्वाल यही जीवनधनतारे।
हेरौं मन-मंदिरमें मुरली अधर धारे ॥

हे मङ्गलमूर्ति ! तुम स्वामी हो और मै सेवक हूँ, मै ध्याता हूँ तुम ध्येय हो। यह तन-मन-धन सब तुमपर न्योछावर है। मेरे सर्वस्व ! मैं तो अब तुम्हारे ही आश्रय हूँ, तुम ही मेरे एकमात्र अवलम्बन हो--

जैसे राखौ वैसे रहौं ।
जानत दुख सुख सब जनके तुम मुखसे कहा कहौं ॥
कबहुँक भोजन लहौं कृपानिधि कबहूँ भूख सहौं ।
कबहूँ चढ़ौं तुरंग महागज कबहूँ भार बहौं ॥
कमलनैन घनश्याम मनोहर अनुचर भयो रहौं ।
सूरदास प्रभु भक्त कृपानिधि तुम्हरे चरण गहौं ॥

मदनमोहन ! आजतक तो तुम्हारी कीर्ति अलापते यह मेरी आयु अच्छी बीत गयी । प्यारे ! अब शेष जो रही, उसमें भी मैं निरन्तर तुम्हारा ही ध्यान करता हुआ, भवार्णवके पार पहुँचूँ । बस, इस आर्तकी यही याचना है और सरकारसे यही मनकी चाहना है—

अब प्रभु कृपा करौ यहि भाँती ।
सब तजि भजन करौं दिनराती ॥
जन्म-जन्म रति तव पद कंदा ।
बढ़ै प्रेम चकोर जिमि चंदा ॥
यह अभिमान जाइ जनि मोरे ।
मैं सेवक यदुपति पति मोरे ॥
नित प्रति करौं कमलपद पूजा ।
मेरे धर्म-कर्म नहिं दूजा ॥

हे भक्तभयहारी ! मै अब कभी विक्षेपके भँवरमें न पड़ूँ और न मायाकी किसी खटपटमे फँसूँ, दैवात् यदि किसी प्रपञ्चके फन्देमे फँस जाऊँ तो भी तुम्हारे नामपर फेंट कसी रहे। केवल शरीर ही उस बन्धनमे रहे परन्तु मन--मनोहर मदनमोहन ! तुम्हे रटता ही रहे। तुम्हारी साँवरी सलोनी माधुरी मनमोहिनी मूरतको कभी न भुलाऊँ और प्रातः-सायं 'जय हो प्यारे राधारमणकी' बस, यही गाऊँ--

दास लखै मुखचन्द्र प्रकाश चकोर समान न नैन हटावै।
तात सखा धन धाम सबै तुमको तजि और कछू न सुहावै॥
राग रहै अनुराग भरो नित प्रीति प्रतीति प्रमोद बढ़ावै।
ग्वाल हिये यह साँवरी सूरति माधुरि मूरति वेणु बजावै॥
सोवत जागत ध्यान रहै मन श्याम स्वरूप नहीं बिसरावै।
शांति स्वरूप रहै मन चंचल त्यागि तुम्हैं फिर अनत न जावै॥
सूमकी संपति लेहि बनाय बसायके भीतर ही सुख पावै।
ग्वाल हिये यह साँवरी सूरति माधुरि मूरति वेणु बजावै॥

हे रसिकबिहारी ! आनन्दमूर्ति वनधारी ! हे अजिरविहारी ! यह मेरी टूटी झाँझरी नैया केवट-पतवारविहीन केवल तुम्हारे ही आश्रय भँवरमें पड़ी है। नाथ ! इसे तो कृपाकी बल्ली लगाकर

अब पार ही करो---क्योंकि अब तुम्हारे अतिरिक्त और किसीपर दृष्टि नहीं जाती। इसलिये मेरा तो निवेदन तुमसे ही है--

प्रिय प्राण-नाथ मनमोहन सुन्दर प्यारे।
छिनहू मति मेरे होहु दृगनुसे न्यारे॥
तुम ही मम जीवनके अवलम्ब कन्हाई।
तुम बिनु सब सुखके साज परम दुखदाई॥
तुव देखे ही सुख होत न और उपाई।
तुम्हरे बिनु सब जग सूनो परत लखाई॥
हे जीवनधन ! मेरे नैननुके तारे।
छिनहू मति मेरे होहु दृगनुसे न्यारे॥
तुम्हरे बिनु इक छिन कोटि कल्प सम भारी।
तुम्हरे बिनु स्वर्गहु महा नरक दुखकारी॥
तुम्हरे संग बनहू घरसे बढ़ि बनवारी।
हमरे तो सब कछु हौ तुम ही गिरधारी॥
हरिचन्द हमारो राखो मान दुलारे।
छिनहू मति मेरे होहु दृगनुसे न्यारे॥

सत्यसनेही ! एक और भली याद आयी। वह यह कि यह सब माँगें जिस दिनके लिये हैं वह मृत्यु-दिवस जब आ जाय तो उस दिन तुम किसीके निमन्त्रण खाने न चले जाना अथवा शेष-

शय्यापर निद्राके वशीभूत न हो जाना। बस, केवल दो मिनटको प्राणान्त-समयपर तुम अवश्य कष्ट उठाना। क्योंकि वात, पित्त, कफ उस समय पुकारने देंगे नहीं जो कि मेरी सुनकर तुम चलते। इसलिये प्यारे ज्योतिषाचार्य! मै हाथ जोड़कर तुमसे निवेदन करता हूँ—कि मरण-तिथिसे थोड़े दिन पहिलेहीसे कृपा करना। जैसे आजकल महीनों गोता लगाये रहते हो, प्यारे! कृपा करके उस समय ऐसा खेल न खेलना—

हो वक्ते[1] मर्ग[2] घरवालोंने घेरा।
खड़ा हो सब लदा असबाब[3] मेरा॥
पड़े जाँ[4] और अजलमें[5] आके तकरार।
लड़ें दोनों बराबर वार वार॥
वह बिछुड़ी हो कि झटपट तनसे निकलूँ।
यह मचली हो कि दर्शन करके निकलूँ॥
नजर आ जाये छवि बाँकी अदाकी।
खुलें आँखें तो झाँकी हो अदाकी॥
जो आये आँखमें दम प्राणप्यारे।
लगा हो ध्यान चरणोंमें तुम्हारे॥

कण्ठावरोधनसमयपर, हिचकियों आते हुए प्राण निकलते

---

१ समय २ मृत्यु ३ सामान ४ प्राण ५ मृत्यु

समय मैं तुम्हींको देखता जाऊँ। प्राणनाथ! मुझे जन्म-जन्ममें इसी भाँतिकी मृत्यु प्राप्त हो। आवागमन इस अवस्थामें मुझे अत्यन्त प्यारा है, क्योंकि प्राणान्त-समयपर अपनी आनन्द-निधिको लूटता जाऊँ। ऐसा संयोग केवल तुम्हारी महान् कृपासे ही होता है—

कदमकी छाँह हो जमुनाका तट हो।
अधर मुरली हो माथेपर मुकुट हो॥
खड़े हों आप इक बाँकी अदासे।
मुकुट झोकोंमें हो मौजे हवासे॥
जो आये आँखमें दम प्राणप्यारे।
लगा हो ध्यान चरणोंमें तुम्हारे॥
गिरे गरदन ढुलककर पीत पटपर।
खुली रह जायँ यह आँखें मुकुटपर॥
अगर इस तौर हो अंजाम मेरा।
तुम्हारा नाम हो औ, काम मेरा॥

प्यारे! प्रार्थना तो यही है, वैसे तुम्हारी इच्छा है। यदि मृत्युशय्यापर दस-पाँच मिनटका अवकाश और मिल जाय तो तुमसे थोड़ा-सा यह आर्तनाद और कर लूँगा—

करुनाकर! करुना करि वेगहि सुधि लीजे।
सहि न सकत जगत दाव तुरत दया कीजे॥

हमरे अवगुनहिं नाथ सपने जनि देखहु ।
आपनी दिसि प्राननाथ प्यारे अवरेखहु ॥
मैं तो सब भाँति हीन कूर कुटिल कामी ।
करत रहत धन-जनके चरनकी गुलामी ॥
महापाप पुष्ट दुष्ट धर्महिं नहिं जानौं ।
साधन नहिं करत एक तुमहिं शरण मानौं ॥
जैसो हों तैसो अब तुमहिं शरण प्यारे ।
काहू विधि राखि लेहु हम तो अब हारे ॥
द्रुपदसुता अजामेल गजकी सुधि कीजे ।
दीन जानि हरीचन्द बाँह पकरि लीजे ॥

श्रीराधारमण बाधाहरण ! बस, और अधिक मै क्या कहूँ ? तुम्हें देखकर तो कुछ कहते ही नहीं बनता है । जहाँ तुम स्वयं विराजमान हो, वहाँ क्या नहीं है ? बस, इस प्रेम-भिक्षुककी एक प्रार्थना और है--

अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहौं निर्वान ।
जनम जनम रति नाथ-पद यह वरदान न आन ॥
नाथ एक वर माँगहूँ वेगि कृपा करि देहु ।
जनम जनम तव कमलपद घटै न कबहूँ नेहु ॥

बार बार बर माँगहूँ हर्षि देहु श्रीरंग।
पदसरोज अनपायनी भक्ति सदा सत्संग॥
मोहि न चाहिय नाथ कछु तुमसन सहज सनेहु।
दीनबन्धु करुणायतन यह मोहि माँगे देहु॥
शीश मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मम उर बसौ सदा विहारीलाल॥

प्राणनिवास! सब कुछ देते हुए इतना दान और भी दे दो कि इस चरणकिंकरको व्रजभूमि जन्मदात्री मिले; जो सृष्टि-भरमें आनन्ददायिनी और भूलोकका दिव्य धाम है। मनुष्य-जीवन [यदि अन्य स्थानमें जन्म हो] मैं नहीं चाहता—मुझे तो पशु-पक्षी इत्यादि जो कुछ भी कर्माधीन योनि मिले, वह वृन्दावन-धामहीमे मिले। मैं व्रजका कीट-भृंग होनेमें ही प्रसन्न हूँ—

गिरि कीजे गोधन मयूर नव कुंजनुको,
पशु कीजे महाराज नन्दके वगरको।
नर कीजे तौन जौन राधे राधे नाम रटै,
तरु कीजे वरु कछु कालिन्दी कगरको॥
इतने ही पै कीजे जो कछु कुँवर कान्ह,
राखिये न फेरि या 'हठी' के झगरको।

गोपी-पद-पंकज-पराग कीजे महाराज,
तृण कीजे रावरे ही गोकुल नगरको ॥

इन बातोंका न्याय तुम ही कर सकते हो, क्योंकि बुद्धिका काम भावी-निर्णय नहीं है । न्यायकारी ! तुम जिस योग्य समझो व्रजमें ही बसा दो—

मानुष हौं तौ वही रसखानि
बसौं व्रज गोकुल गाँवके ग्वारन ।
जो पशु हौं तौ कहा वसु मेरो
चरौं नित नन्दकी धेनु मझारन ॥
पाहन हौं तौ वही गिरिकौ
जो धरयौ कर छत्र पुरंदर-धारन ।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि
कालिंदी कूल कदम्बकी डारन ॥

अहा हा ! धन्य वृन्दावन-धाम ! तुझे वारम्बार कोटिश. प्रणाम है—महान् बड़भागी पुरुषोंको तुझमें घड़ीभर विश्राम प्राप्त होता है । नाथ ! तुम जब अत्यन्त प्रसन्न होते हो, तब अपना धाम बसनेको देते हो । बस, इससे परे अन्य कोई धाम नहीं है ।

वृन्दावनकी रेणुको सुरपति नावत माथ ।
जहाँ जाय गोपी भये श्रीगोपेश्वर नाथ ॥

वृन्दावनमें वास करि साग पात नित खात।
तिनके भागनिको निरखि ब्रह्मादिक ललचात॥
हम न भये ब्रजमें प्रगट यही रही मन आस।
निसिदिन निरखत युगलछबि करि वृन्दावन वास॥
मुक्ति कहे गोपाल तें मेरी मुक्ति कराइ।
ब्रज-रज उड़ि मस्तक लगे मुक्ति मुक्त ह्वै जाइ॥
कदम कुंज ह्वैहौं कबै श्रीवृन्दावन माँहि।
ललितकिशोरी लाड़िले बिहरैंगे तेहि छाँहि॥
कब कालिन्दी कूलकी ह्वैहौं तरुवर-डार।
ललितकिशोरी लाड़िले झूलें झूला डार॥
कब हौं सेवा-कुंजमें ह्वैहौं श्याम तमाल।
लतिका कर गहि बिरमिहैं ललित लड़ैती लाल॥
कब कालिंदी कूलकी ह्वैहौं त्रिविध समीर।
युगल अंग अँग लागिहौं उड़िहैं नूतन चीर॥
सुमन-वाटिका विपिन महँ ह्वैहौं कब मैं फूल।
कोमल कर दोउ भावते धरिहैं बीनि दुकूल॥

कृपासिन्धो! अब देर करनेका काम नहीं है। इस दासको तो ब्रज ही प्यारा है, स्वर्ग नहीं। रसिकमनमोहन! हम अब और कुछ नहीं चाहते। बस, यही आशा है—

यमुना-पुलिन-कुंज गहवरकी कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
प्रिय-पद-पंकज लाल मधुप ह्वै मधुरे-मधुरे गुंज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन बीथिन डोलूँ बचे सीथ रसिकनके खाऊँ।
ललितकिशोरी आस यही मम ब्रजरज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

प्राणनाथ ! तुम्हारी नेक दयादृष्टिसे ही यह अभीष्ट मनोरथ सिद्ध हो सकता है। तुम कृपालु हो। दयाभाव तुम्हारा स्वभाव है—

दीनबन्धु दीनानाथ रमानाथ ब्रजनाथ
राधानाथ मो अनाथकी सहाय कीजिये।
तात मात भ्रात कुलदेव गुरुदेव स्वामी
नातो तुम ही सों मो विनय सुनि लीजिये॥
रीझिये निहारि देर कीजिये न झीनी कहूँ
दीन दास जानि मोहि आपनाय लीजिये।
कीजिये कृपा कृपाल साँवरे विहारीलाल
मेटि दुख जाल वास वृन्दावन दीजिये॥

हे रसिकविहारी, मोहन मुरारी, श्रीनन्द-अजिरविहारी सुखकारी, दुःखहारी ! मैं तो मनमे आयी सब कुछ कह चुका, अब आगे तुम्हारे आधीन है—

आप सब नियरे अरु दूरिकी पहिचानत हौ
छिपी नाहिं काहु कूर साहिब सहूरकी।
नुकता निवाजी करि राजी छिन ही में होत
करत ऐतराजी न सुनिकै कसूरकी॥
तुम सो न दूसरो दयालु श्रीविहारीलाल
जाहि लाज आवै निज जनके जरूरकी।
गरजी बिचारेको अरजी दिये ही बने
मानौ या न मानौ यह मरजी हुजूरकी॥

मेरे जीवनधन! तुम्हें अब साष्टांग प्रणाम है। प्यारे! हमे तुम भूल मत जाना--जैसा कुछ भी हूँ, मैं तुम्हारा ही हूँ--

बाँह छुड़ाये जात हौ निबल जानिकै मोहि।
हिरदै ते जब जाहुगे मर्द बदौंगो तोहि॥

प्यारे! जा तो रहे ही हो, अब मेरी अन्तिम अभिलाषा और है--

मूरति यह माधुरी मेरे मनमें वसी रहे।
मम फेंट सदा कृष्णनाम पै कसी रहे॥
लौ लाड़िले तुमसे सदा मेरी लगी रहे।
प्रभु-प्रीतिकी प्रतीति पदाम्बुज पगी रहे॥

राधा-रमण बाधा-हरण मंगल-करण कहूँ।
चाहे जहाँ कृपानिधे! जिस वेषमें रहूँ॥
जाना न कभी याद भूल जनकी मुरारे!।
मनमें रमे मोहन! रहो मुरली अधर धारे॥
सब भाँतिसे प्रभु-चरण-शरण हम हैं तुम्हारे।
माता पिता सखा स्वजन तुम ही हो हमारे॥
ज्वाला तुम्हीं पै तन तथा मन और धन वारे।
यह मन्द-मन्द माधुरी मुसुकानि निहारे॥

श्रीकृष्णचरणार्पणमस्तु

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

केवल चार सौ वर्ष पहले बङ्गालको भक्ति और प्रेमकी बाढ़में बहा देनेवाले श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुकी यह सविस्तार जीवनी है। भारतके कई भागोंमें खासकर बङ्गालमें आज भी मुद-मंगलदायी हरिनामका इतना प्रचार आपके ही प्रभावसे है। जिन लोगोंको भक्ति-भावपूर्वक श्रीश्रीचैतन्य-चरित्र-श्रवणका अवसर मिला है वही उसके आनन्दको जानते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ पाँच खण्डोंमें छपा है।

पहला खण्ड

इस खण्डमें ३८ अध्याय हैं। पृष्ठ २९६, ६ रंगीन चित्र, मू० ।।।=), स० १=)

दूसरा खण्ड

जिन्होंने पहला खण्ड पढा है उनको इस चरितावलीका कुछ महत्त्व ज्ञात हुआ होगा।

पृष्ठ-संख्या ३७६, ४ तिरंगे, ३ दुरंगे, २ इकरंगे चित्र हैं। मूल्य केवल १=), सजिल्द १।=) मात्र।

तीसरा खण्ड

त्याग, वैराग्य और प्रेमके समुद्र श्रीचैतन्यदेवकी जीवनीका यह खण्ड भक्तोंको बहुत ही सुख देनेवाला है। इसमें ४७ अध्यायोंमें श्रीगौरहरिकी लोकपावनी लीलाओंका विशद वर्णन है।

पृष्ठ-संख्या ३८४, चित्र ११ सम्पूर्ण रंगीन, मूल्य १), सजिल्द १।)

चौथा खण्ड

पृष्ठ-संख्या २२४, चित्र ५ रंगीन, ९ सादे, मूल्य ।।=), सजिल्द ।।।=)

पाँचवाँ खण्ड

इस अन्तिम खण्डमें ऐसी-ऐसी दिव्य और अलौकिक प्रेमपूर्ण घटनाएँ है जिन्हें पढकर हमारा हृदय प्रेम-समुद्रमें एक डुबकी लगा देता है। सारी जीवनीमें यह खण्ड बहुत सुन्दर है।

पृष्ठ २८०, चित्र ४ रंगीन, ६ सादे, मूल्य ।।।), सजिल्द १) मात्र।

विशेष जानकारीके लिये पुस्तकोंका सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

परमार्थ-ग्रन्थमाला, तृतीय पुष्प

साधन-पथ

हनुमानप्रसाद पोद्दार

मुद्रक तथा प्रकाशक—
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर।

सं० १९८६ प्रथम संस्करण ५०००
स० १९८८ द्वितीय सस्करण ५०००
स० १९९१ तृतीय सस्करण ५,०००
स० १९९३ चतुर्थ संस्करण ५,०००

मिलनेका पता—
गीताप्रेस, गोरख

मू० =)॥ ढाई आना

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

साधन-पथ

विषय-सूची

श्रीहरिः

विनीत प्रार्थना

इस छोटी-सी पुस्तिकामें जो कुछ लिखा गया है वह बड़े अच्छे-अच्छे लोगोंके अनुभवकी बातें हैं, अतएव यह दावेके साथ कहा जा सकता है कि इस छोटी-सी पुस्तिकाके अनुसार अपना जीवन बनानेवाले सज्जन साधन-पथपर निस्सन्देह बहुत कुछ अग्रसर हो सकेंगे, मेरी विनीत प्रार्थना है कि सच्चे सुखके अभिलाषी सज्जन कुछ दिन प्रयत्न करके देखें।

—लेखक

निवेदन

इस पुस्तकके पन्द्रह हजारके तीन संस्करण ६ ही वर्षोंमें समाप्त हो गये, इससे पता लगता है कि परमार्थप्रेमी सज्जनोंको यह पुस्तक उपादेय हुई है। चौथा संस्करण प्रकाशित हो रहा है। आशा है, भारतकी परलोक तथा ईश्वरको माननेवाली धर्म-प्राण जनता इससे पूर्ववत् लाभ उठावेगी!

इस पुस्तकका अंग्रेजी अनुवाद Kalyana-Kalpataru मासिक पत्रमें धारावाहिक निकल चुका है। अब अलग पुस्तकाकार भी छप रहा है।

मराठी आदिके पत्रोंमें भी इसके अनुवाद प्रकाशित हुए थे।

गीताप्रेस
गोरखपुर

—प्रकाशक

वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण

श्रीहरिः

साधन-पथ

जीवनका परम ध्येय

हरिरेव परं ब्रह्म हरिरेव परा गतिः ।
हरिरेव परा मुक्तिर्हरिर्गेयः सनातनः ॥

—भगवान् व्यास

विविध विघ्न-बाधा-संकुल इस जगत्मे जो मनुष्य भगवत्-प्राप्तिके लिये साधन करता है, वह वास्तवमे बड़ा ही भाग्यशाली है । संसारमे अधिकाश लोग तो यथार्थतः ईश्वर-के अस्तित्वको ही नहीं मानते । जो मानते है उनमे अधिकांशकी बुद्धि तमोगुणके अन्धकारमय आवरणसे आच्छादित रहनेके कारण वे भगवत्-प्राप्तिकी शुभेच्छा नहीं करते । जो सौभाग्यवश श्रवणादिके प्रभाव-से भगवत्-प्राप्तिके महत्त्वका कुछ ज्ञान रखते है, उनकी विक्षिप्त बुद्धि भी प्रायः विविध कामनाओंसे हरण की हुई रहनेके कारण वे भगवान्का कुछ भजन-स्मरण करके भी उसके बदलेमें

तुच्छ भोगोंकी ही इच्छा करते है। इनसे आगे बढे हुए कुछ लोग बुद्धिकी सात्त्विक वृत्तियोंके अनुसार साधनका आरम्भ तो करते है परन्तु अध्यवसाय और उत्साहकी न्यूनता, लक्ष्यकी अस्थिरता और विघ्नोंकी पहचानके अभाव तथा विघ्ननाशके उपाय न जाननेके कारण चरम लक्ष्यतक पहुँचनेके पहले ही साधन छोड़कर पथभ्रष्ट हो जाते हैं। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई बिरला ही मेरे लिये (भगवत्-प्राप्तिके लिये) यत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवालोंमे भी कोई बिरला भगवत्-परायण पुरुष ही मुझे तत्त्वसे जान सकता है।'

इतना होनेपर भी जीव स्वभावतः चाहता है परमात्माको ही। क्योंकि सुखकी चाह सबको है और सभी पूर्ण, दुःखरहित तथा नित्य सुख चाहते हैं। कोई भी ऐसे सुखका अभिलाषी नहीं है, जो अल्प, दुःखमिश्रित और नाश होनेवाला हो। इसमे कोई सन्देह नहीं कि बहुत बार मनुष्य किसी अल्प सुखविशेपको ही पूर्ण सुख मानकर कुछ समयके लिये उसमें तृप्त होना चाहता है, पर कुछ ही कालके बाद उसको जब उस सुखमे किसी अभावकी प्रतीति होती है तब वह उसमें सन्तुष्ट न रहकर अभावकी पूर्तिके

लिये आगे बढ़ता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसे अभावमय सुख सदाके लिये सन्तुष्ट नहीं कर सकता। वह पूर्ण सुख चाहता है। पूर्ण, नित्य, अभावरहित सुख उस सत्, त्रिकालव्यापी और त्रिकालातीत परमात्माका स्वरूप है। इस न्यायसे विविध जीव-नदियोंका प्रवाह भिन्न-भिन्न पथोंसे अनेकमुखी होकर उस एक ही नित्य सुख-सागर परमात्माकी ओर सतत बह रहा है। जीवकी यह अनादिकालीन सुखस्पृहा—उसकी परमात्म-मिलनाकांक्षाको प्रकट करती है। जहाँतक उसे अपने चरम लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो जायगी, वहाँतक इस प्रवाहकी गतिका कभी विराम नहीं होगा।

परन्तु अज्ञान-तिमिराच्छन्न होनेके कारण सुखके यथार्थ स्वरूपको जीव पहचान नहीं सकता। इसीसे उसके मार्गमें अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित होते हैं। वह कभी मार्ग भूल जाता है, कभी रुक जाता है, कभी उलटे चलनेकी चेष्टा करता है, कभी हताश होकर बैठ जाता है और कभी किसी पान्थशालाको ही घर मानकर अल्प सुखको ही परम सुख समझकर उसीमें रम जाता है। इसीलिये ऐसे जीव पामर या विषयी कहलाते हैं। इसके विपरीत जो अपने ध्येयको समझकर उसीकी प्राप्तिके लिये बड़ी तत्परताके साथ यथाशक्ति नित्य निरन्तर प्रयत्न करते हैं, वे (मुमुक्षु) साधक कहलाते हैं। इस प्रकार साधन-पथारूढ होनेके लिये सबने पहले ध्येय निश्चित करने, लक्ष्य ठीक करनेकी आवश्यकता है।

परम ध्येय क्या है ?

मनुष्यको सबसे पहले इस बातका निश्चय करना चाहिये कि मेरे जीवनका परम ध्येय क्या है ? किस लक्ष्यकी ओर जीवनको ले चलना है। जबतक यह स्थिर नहीं कर लिया जाता कि मुझे कहाँ जाना है, तबतक मार्ग या मार्गव्ययकी चर्चा करना जैसे निरर्थक है, वैसे ही जबतक मनुष्य अपने जीवनका ध्येय निश्चित नहीं कर लेता कि मुझे इस जीवनमें क्या लाभ करना है, तबतक कौन-से योगके द्वारा क्या साधन करना चाहिये, यह जाननेकी चेष्टा करना भी व्यर्थ है। इस समय जगत्में अधिक लोग प्रायः निरुद्देश ही भटक रहे है—प्रकृतिके प्रवाहमें अन्धे हुए बह रहे है, उन्हे यह पता नहीं कि हम कौन हैं ? जगत्मे मानवदेह धारण करके क्यो आये है और हमे क्या करना है ? किसी भी प्रकारसे धनोपार्जन कर कुटुम्बका भरण-पोषण करना और उसीके लिये जीवन बिता देना, साधारणतः यही अधिकांश लोगोंकी जीवनचर्या है।

ऊपर कहा जा चुका है और यह प्रत्येक मनुष्यका अनुभव भी है कि हम सुख चाहते है। अब विचार यह करना है कि हम जिन वस्तुओंके संग्रह और संरक्षणमे अपना जीवन बिता रहे है, वे क्या वास्तवमें सुखरूप है ? यह तो सभी जानते हैं कि ससारकी प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर और विनाशशील हैं। जो विनाशी है वह अनित्य है, और जो अनित्य है उसका एक दिन वियोग अवश्यम्भावी

है । जिस वस्तुकी प्राप्ति और भोगके समय सुख होता है उसके वियोगमे दुःख अवश्य होगा । अतः संसारकी प्रत्येक वस्तु वियोग-शील होनेके कारण दुःखप्रद है । पुत्रके जन्मके समय बधाइयाँ बॉटी जाती हैं, बड़ा आनन्द होता है, बच्चेको घरमे खेलता देख-देखकर चित्त-कुसुमकी कलियॉ खिल जाती है, परन्तु एक दिन ऐसा अवश्य आता है, जिस दिन या तो वह हमें छोड़कर चल बसता है या उसे छोड़कर हमे परवश परलोक सिधारना पड़ता है। अपनी मानी हुई प्रिय वस्तु जब छूटती है तब जो दुःख होता है उसका अनुभव प्रायः हम सभीको है । इसलिये इस पुत्र-वियोगमे हमे उतना ही, प्रत्युत उससे भी अधिक दुःख होता है, जितना सुख उसके जन्म होनेके समय और पीछे उसे ऑगनमे खेलते देखकर हुआ था । यही न्याय स्त्री-स्वामी, माता-पिता, गुरु-शिष्य, मान-कीर्ति और शरीर-स्वर्ग आदि सभीमे लागू होता है । साराश यह कि, अनित्य वस्तुमे केवल और पूर्ण सुख कदापि नहीं होता । उसका अन्त तो दुःखमय होता ही है, विचार करनेपर अनित्य वस्तुका सुख भोगकालमे भी दुःखसे सना हुआ ही प्रतीत होता है ।

इसलोक और परलोकके सभी भोग-पदार्थ अनित्य हैं । परन्तु इस अनित्यके पीछे अधिष्ठानरूपसे जो एक सत्य छिपा हुआ है, जो सदा एकरस और अव्यय है वही नित्य वस्तु है । उसीके सम्बन्धमे गीता कहती है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(२। २०)

—'जो किसी कालमे न जन्मता है, न मरता है, न होकर फिर होनेवाला है वह तो अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीरके नाशसे उसका नाश नहीं होता।' ऐसा वह परमपदार्थ केवल परमात्मा है, उस परमात्माके एकत्वमें अपनी कल्पित भिन्न सत्ताको सर्वथा विलीन कर देना—केवल उस एक परमात्माका ही शेष रह जाना भगवत्-प्राप्ति है और यही हमारे जीवनका परम ध्येय है। उपर्युक्त नित्यानित्य वस्तु-विचारसे ही यह ध्येय निश्चित किया जाता है। इस ध्येयकी ओर सदा लगे रहनेके लिये सर्व-प्रथम साधन है वैराग्य।

वैराग्य

इसलोक और परलोकके समस्त दृष्ट श्रुत या अदृष्ट अश्रुत पदार्थोंसे सर्वथा वितृष्ण हो जाना वैराग्य कहलाता है। जबतक विषयोमे अनुराग रहता है, तबतक परमात्म-प्राप्तिके चरम ध्येयपर मनुष्य दृढ़तासे स्थिर नहीं रह सकता। विषयानुरागकी निवृत्ति विषय-विरागसे होती है। विषयोमे चित्तका अनुराग प्रधानतया चार कारणोसे हो रहा है—(१) विषयोका अस्तित्व-बोध, (२) विषयोमे रमणीयताका बोध, (३) विषयोमे सुख-बोध और (४) विषयोमे प्रेमका बोध।

विवेकद्वारा इन चारोका बाध करनेपर वैराग्यकी प्राप्ति होती है। इसलिये नित्यानित्य वस्तु-विवेककी आवश्यकता पहले होती है। विवेकसे वैराग्य जागृत होता है और वैराग्यसे विवेक स्थिर और परिमार्जित होता है, यह दोनो अन्योन्याश्रित साधन है। उपर्युक्त चारो कारणोमे पहलेका बाध प्रायः सबसे पीछे हुआ करता है, क्योकि यह पहला ही तीनोका मूल आधार है। जगत्का अस्तित्व ही बुद्धिसे जाता रहे तो फिर उसमे रमणीयता, सुख और प्रेमका तो कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। परन्तु ऐसा होना बहुत कठिन है। अतएव साधकको क्रमशः पिछले तीनो-का बाध करके फिर पहलेका नाश करना पड़ता है।

रमणीयताका बाध

विषयोंकी ओर चित्त-वृत्तियोंके आकर्षित होनेमे सबसे पहला कारण उनमे रमणीयताका बोध है। विषयोंमे रमणीयताका भास बुद्धिके विपर्ययसे ही होता है। बुद्धिके विपर्ययमे अज्ञानसम्भूत अविद्या प्रधान कारण है। इस अविद्यासे ही हमें असुन्दरमें सुन्दर-बुद्धि, अनित्यमे नित्य-बुद्धि, दुःखमे सुख-बुद्धि, अपवित्रमें पवित्र-बुद्धि, प्रेमहीनमें प्रेम-बुद्धि और असत्में सत्-बुद्धि हो रही है। उल्लूकी भाँति रातमे दिन और दिनमे रात इस अविद्यासे ही दीखता है। इसीसे हमे अस्थि-चर्मसार शरीर और तत्सम्बन्धीय तुच्छ पदार्थोंमें रमणीय-बुद्धि हो रही है। मनुष्य जिस विषयका निरन्तर चिन्तन करता है, उसीमें उसकी समीचीन बुद्धि हो जाती है, यह समीचीनता ही रमणीयताके रूपमे परिवर्तित होकर हमारे मनको आकर्षित करती रहती है। अब विचारना चाहिये कि विषयोंमें वास्तवमे रमणीयता है या नहीं और यदि नहीं है तो रमणीयता क्यों भासती है?

विचार किया जाय तो वास्तवमे विषयोंमे रमणीयता बिल्कुल नहीं है। जो शरीर हमे सबसे अधिक सुन्दर प्रतीत होता है, उसमे क्या है? वह किन पदार्थोंसे बना है? हड्डी, मास, रुधिर, चर्म, मज्जा, मेद, कफ, विष्ठा और मूत्र आदि पदार्थोंसे भरे इस ढाँचेमें कौन-सी वस्तु रमणीय और आकर्षक है? अलग-अलग

देखनेपर सभी चीजें घृणास्पद प्रतीत होती हैं। यही हाल और सब वस्तुओंका है। वास्तवमे रमणीयता किसी वस्तुमे नहीं होती, वह कल्पनामे रहती है। कल्पना ही रूढि बनकर तदनुसार धारणा करानेमे प्रधान कारण होती है।

हमलोगोको जहॉ गौर वर्ण अपनी ओर आकर्षित करता है, वहॉ हबशियोको काली सूरत ही रमणीय प्रतीत होती है। चीनमे कुछ समय पूर्व स्त्रियोके छोटे पैरोमे लोगोकी रमणीय-बुद्धि थी। लड़कियोको बचपनसे ही लोहेकी जूतियॉ पहना दी जाती थीं, जिससे उनके पैर बढ़ने नहीं पाते थे। यद्यपि इससे उन्हे चलनेमे बडी तकलीफ होती थी परन्तु रमणीय-बुद्धिसे बाध्य होकर वे प्रसन्नता-पूर्वक ऐसा करती थीं। राजस्थानकी मारवाड़ी स्त्रियॉ बेहूदे गहने-कपड़ोके भारी बोझसे कष्ट सहन करनेपर भी उन्हे पहनकर अपने-को सुन्दर समझती है, पर गुजरातकी सादी पोशाक धारण करने-वाली स्त्रियॉ उसे देखकर हॅसती है। ठीक इससे विपरीत मनोवृत्ति मारवाड़ी बहनोकी गुजराती बहनोंके वेश-भूषाके प्रति होती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि रमणीयता किसी विषयमे नहीं है, वह हमारे मनकी कल्पनामे है। हमने ही अपनी रुचिके अनुसार विषयोंमे सुन्दरताकी कल्पना कर ली है!

विषयोंमें सुखका बाध

यह कहा जा सकता है कि, मान लिया विषयोंमे रमणीयता

नहीं है परन्तु उनके भोगमे सुख तो है। इसका उत्तर यह है कि विषयभोगोमे वास्तवमे सुख नहीं है। कमरेमें लगे हुए कॉचके ग्लोबमे बिजली नहीं होती, वह तो सीधी पावर-हाउससे आती है, क्योकि उसका उद्गमस्थान वही है। इसी प्रकार सुख भी सुखके परम उद्गमस्थान आनन्दरूप आत्मासे आता है। विषयमे सुख होता तो भोगके उपरान्त भी उसमे सुखकी प्रतीति होनी चाहिये। पर ऐसा नहीं होता। बड़ी भूख लगी है, सूखी रोटी भी बहुत स्वादिष्ट माल्रम होती है, सुन्दर मिष्टान्न मिल गया, खूब पेटभर खाया। अब जरा-सी भी गुंजाइश नहीं रही, पेट फूलनेकी नौबत आ गयी। इसके बाद यदि कोई उसी मिष्टान्नको खानेके लिये हमारी इच्छाके विरुद्ध जोरसे आग्रह करता है तो हमे उसपर गुस्सा आ जाता है। वही मिष्टान्न, जो कुछ समय पूर्व बड़े सुखकी सामग्री था, अब दुःखरूप प्रतीत होता है। इससे पता लगता है कि मिष्टान्नमें सुख नहीं है। हमें भूख लगी थी, भोजनरूपी विषयकी बड़ी चाह थी। जब वह विषय मिला, तब थोड़े समयके लिये—दूसरे अभावकी भावना न होनेतक चित्त स्थिर हुआ, उस स्थिरचित्तरूपी दर्पणपर सुख-स्वरूप आत्माकी झलकका प्रतिबिम्ब पड़ा, सुखका आभास हुआ। हमने भ्रमसे मान लिया कि यह सुख हमे विषयसे मिला है।

इसके सिवा एक बात यह भी विचारणीय है कि यदि विषय सुखरूप है तो एक ही विषय भिन्न-भिन्न प्रकृतिके मनुष्योंमे किसीको

सुखरूप और किसीको दुःखरूप क्यो भासता है? एक राजाने किसी शत्रु-राज्यपर विजय प्राप्त की। इससे उसके प्रेमियोंको सुख और विरोधियोको दुःख होता है। विषयकी एकतामे भी सुख-दुःखके बोधमे तारतम्यता है। यही विषय-सुखका स्वरूप है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमने भ्रमसे ही विषयोमे सुखकी कल्पना कर रक्खी है, वास्तवमे माया-मरीचिकाकी भॉति इनमे सुख है ही नहीं। इस प्रकारके विचारोंसे सुखका बाध हो जाता है। अब रहा विषयप्रेम।

विषयोंमें प्रेमका बाध

हम कह सकते हैं कि पुत्र-कलत्र-मित्रादिमे रमणीयता और सुख तो नहीं है, परन्तु प्रेम तो प्रत्यक्ष ही दीखता है। इसपर भी विचार करनेसे पता लगता है कि विषयोमें वास्तवमे प्रेम भी नहीं है। स्वार्थ ही प्रेमके रूपमे प्रकाशित हो रहा है। गुरु नानकने क्या अच्छा कहा है—

जगतमें झूठी देखी प्रीत।
अपने ही सुखसों सब लागे, क्या दारा क्या मीत॥
मेरो मेरो सभी कहत हैं, हितसों बॉध्यो चीत।
अन्तकाल संगी नहिं कोऊ, यह अचरजकी रीत॥
मन मूरख अजहूँ नहिं समुझत, सिख दै हार्‌यो नीत।
'नानक' भव-जल-पार परै, जो गावे प्रभुके गीत॥

मान लीजिये घरमे आग लग गयी, गहने-कपडे, नोट-गिन्नी और स्त्री-पुत्रादिसहित हम घरमे सोये है। इतनेमें आँखे खुलीं. अ

ज्वाला देखते ही घबराकर अपनेको बचाते हुए हम गहने-कपडे, रुपये-गिन्नी बटोरने और स्त्री-पुत्रादिको बचानेके लिये चिल्लाहट मचाने और चेष्टा करने लगे। आग बढ़ी, लपटें हमारी ओर आने लगीं। हम घबराकर सब कुछ वहीं पटक बाहर भाग निकले। प्यारे स्त्री-पुत्रादि अन्दर ही रह गये। बाहर निकलकर अपनी जान बचाकर हम उन्हें निकालनेके लिये चिल्लाते हैं पर अन्दर नहीं जाते। यदि उनमे यथार्थ प्रेम होता तो क्या उन्हे बचानेके लिये प्राणोंकी आहुति सहर्ष न दे दी जाती? इससे सिद्ध होता है कि हमारा उनसे वास्तवमें प्रेमका नहीं स्वार्थका सम्बन्ध है। जबतक स्वार्थमे बाधा नहीं पड़ती, तभीतक प्रेमका बर्ताव रहता है। कहा है—

जगतमें स्वारथके सब मीत।
जब लगि जासों रहत स्वार्थ कछु, तब लगि तासों प्रीत॥

स्वार्थमें बाधा पड़ते ही बनावटी प्रेमके कच्चे सूतका धागा तत्काल ही टूट जाता है। हम जो स्त्री-पुत्र-धनादिके वियोगमें रोते हैं, सो अपने ही स्वार्थमें बाधा पहुँचते देखकर रोते हैं। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि, तब, जो लोग देशके लिये प्राण विसर्जन कर देते है उनमें तो वास्तविक प्रेम है न? अवश्य ही उनके प्रेमका विकास हुआ है, वे लोग उन क्षुद्र-स्वार्थी मनुष्योंकी अपेक्षा बहुत उच्च श्रेणीके हैं तथापि उनकी भी यह चेष्टा वास्तवमें आत्मसुखके लिये ही है। इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि ऐसी चेष्टा किसीको नहीं करनी चाहिये। इस प्रकारकी चेष्टाएँ तो अवश्य ही करनी चाहिये। परन्तु

यह याद रखना चाहिये कि इन चेष्टाओंके होनेमे भी कारण वैराग्य ही है। अपने शरीर-सम्बन्धी क्षुद्र स्वार्थोंसे विराग न होता तो प्रेमका इतना विकास कभी सम्भव नहीं था। यह सब होनेपर भी उन लोगोंका कुटुम्ब, जाति या देशसे यथार्थ प्रेम सिद्ध नहीं होता, इहलौकिक या पारलौकिक सुख, कीर्ति या पदगौरवजन्य आत्म-सुखाभिलाषाका ही प्रायः इसमे प्रधान उद्देश्य रहता है। वास्तवमें हम अपने ही लिये सबसे प्रेम करते हैं।

हम अपने शरीरसे भी अपने ही सुखके लिये प्रेम करते है। जब शरीरसे सुखमे बाधा पहुँचती है, तब उसको भी छोड़ देना चाहते हैं। अत्यन्त कष्टजनक रोगसे पीड़ित होने या अपमानित और पददलित होनेपर शरीरके नाशकी कामना या चेष्टा करना इसी बातको सिद्ध करता है कि हमारा शरीरसे प्रेम नहीं है। प्रेम तो प्रेम-की वस्तुमे ही होता है। प्रेमकी वस्तु है एकमात्र आत्मा। जगत्से भी उसी अवस्थामें असली प्रेम हो सकता है जब कि हम जगत्को अपना आत्मा मान लेते हैं। इसीलिये बृहदारण्यक श्रुतिमें कहा है—*'न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।'* इत्यादि।

यही भाव हमारे प्रति भी और सबका समझना चाहिये। इस प्रकारके विचारोंसे विषय-प्रेमका बाध करनेपर अब एक बात शेष रह जाती है—विषयोंकी सत्ताका बाध।

विषयोंकी सत्ताका बाध

मान लिया कि विषयोंमे रमणीयता, सुख और प्रेम नहीं है, परन्तु विषयोकी सत्ता तो माननी ही पड़ेगी। सत्ता न होती तो देखना, सूँघना, स्पर्श करना, बोलना, सुनना आदि सब क्रियाएँ प्रत्यक्ष क्योंकर हो सकती हैं? इसपर यह कहा जा सकता है कि जब रज्जुमें सर्प दीखता है, उस समय क्या उस कल्पित सर्पमें सत्य सर्पबुद्धि नहीं होती? क्या उस समय वह रस्सी ही प्रतीत होती है? यदि रस्सी ही प्रतीत होती है तो उससे डरने या काँपनेका कोई कारण नहीं है। गोसाईंजी महाराजने इस विषयको एक पदमे बड़ी अच्छी तरह समझाया है—

हे हरि! यह भ्रमकी अधिकाई।
देखत, सुनत, कहत, समुझत संसय-संदेह न जाई॥
जो जग मृषा ताप-त्रय अनुभव होइ कहहु केहि लेखे।
कहि न जाइ मृग-बारि सत्य, भ्रमतें दुख होइ बिसेखे॥
सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहु नाव न पार पाव सो, जबलगि आपु न जागै॥
अनबिचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी।
सम-संतोष-दया-बिबेकते ब्यवहारी सुखकारी॥
'तुलसिदास' सब बिधि प्रपंच जग जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति-भगति संत-संगति बिनु, को भव-त्रास नसावै॥

स्वप्नमें समुद्रमें डूबता हुआ मनुष्य, जबतक स्वयं नहीं जाग जाता, तबतक बाहरकी करोड़ों नावोंद्वारा भी वह डूबनेसे नहीं बच सकता। यद्यपि पलंगपर सोये हुएके पास समुद्र नहीं है, पर स्वप्नकालमें तो उसे वह सर्वथा सत्य ही प्रतीत होता है, इसी प्रकार यह संसार सत्तारहित होनेपर भी अविद्यासे सत् भासता है।

भरम परा तिहुँ लोकमैं, भरम बसा सब ठाँव।
कहै कबीर पुकारिकै, बसे भरमके गाँव॥

इन विचारोंसे सत्ताका बाध करना पड़ता है। परन्तु जगत्‌की सत्ताका बाध करना कहनेमे जितना सुगम है, करनेमे उतना ही कठिन है। बड़ी साधनाका यह परिणाम होता है। इसके लिये बड़े भारी विवेककी आवश्यकता है। जहाँतक यह न हो, वहाँतक विषयोंमें रमणीयता, सुख और प्रेमबोधका बाध करते रहना चाहिये। यही वैराग्य है।

वैराग्य बिना परमार्थ नहीं

जो लोग बिना वैराग्यके परमार्थ-वस्तुकी प्राप्ति करना चाहते हैं, वे मानो आकाशमें निराधार दीवार उठानेका व्यर्थ प्रयास करते हैं। अतएव वैराग्यकी भावना सदा ही साधकको जाग्रत् रखनी चाहिये। विचारना चाहिये कि जगत्‌का कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। धन-वैभव, विद्या-बुद्धि, तेज-प्रभाव, गुण-गौरव, बल-रूप, यौवन-श्री आदि सभी वस्तुएँ मृत्युके साथ ही हमारे लिये धूलमें

मिल जाती हैं। आज हम अपने धनके सामने जगत्के लोगों-अपने ही भाइयोंको तुच्छ समझते हैं। ऊँची जाति या विद्याके कारण दूसरोंको नगण्य मानते हैं। नेतृत्वमें अपना कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते। व्याख्यानो और लेखोंसे लोगोंको चमत्कृत कर देते हैं। नीति और चतुराईमे बड़े-बड़े राजनीतिज्ञोसे भी अपनेको बड़ा मानते हैं। दानमे कर्णकी समताका दम भरते हैं, बलमें भीम कहलाना चाहते हैं। यशस्वितामें अपनी बराबरीका किसीको भी देखना नहीं चाहते। शरीर-मन-बुद्धिपर बड़ा अभिमान है, पर यह खयाल नहीं करते कि इस कच्चे घड़ेको फूटते तनिक-सी देर भी नहीं लगेगी। जहाँ यह तनका घड़ा फूटा कि सब खेल खतम हो गया। फिर इस देहकी दशा यह होती है—

जारे देह भस्म ह्वै जाई, गाड़े माटी खाई।
काँचे कुम्भ उदक ज्यों भरिया, तनकी यही बड़ाई॥

—कबीर

पानीका बुद्बुदा उठा और मिट गया, यही इस शरीरकी स्थिति है—

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुसकी जाति।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात॥

—कबीर

इसीलिये कबीरजीने चेतावनी देते हुए कहा है—

कबीर नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय।
यह पुरपट्टन यह गली, बहुरि न देखौ आय॥

सातों नौबत बाजती, होत छतीसों राग।
सो मन्दिर खाली पड़े, बैठन लागे काग॥
आजकालके बीचमें, जंगल होगा बास।
ऊपर ऊपर हल फिरैं, ढोर चरैंगे घास॥
हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी, केस जलै ज्यों घास।
सब जग जलता देखकर, भये कबीर उदास॥
झूठे सुखको सुख कहैं, मानत हैं मन मोद।
जगत चवेना कालका, कछु मुख महँ, कछु गोद॥
हाँकै परबत फाटते, समँदर घूँट भराय।
ते मुनिवर धरती गले, क्या कोइ गरब कराय॥
माली आवत देखिके, कलियाँ करैं पुकार।
फूली फूली चुनि लई, कालि हमारी बार॥
माटी कहै कुम्हार ते, तूँ क्यों रूँधै मोहिं।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं रूँधौंगी तोहिं॥
मरहिंगे मरि जायँगे, कोइ न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसायँगे, छाँड़ बसंता गाम॥
आसपास योधा खड़े, सबी बजावें गाल।
माँझ महलसे लै चला, ऐसा काल कराल॥

जीवनकी यह दशा है। इसलिये चार दिनकी चाँदनीपर इतराना छोड़कर विषयोंसे मन हटाना चाहिये। कबीरजीका एक भजन और याद रखिये—

हमकों ओढ़ावे चदरिया, चलती विरियाँ ॥
प्रान राम जब निकसन लागे,
उलट गई दोउ नैन पुतरिया ॥
भीतरसे बाहर जब लावै,
छूटि गई सब महल अटरिया ॥
चारि जने मिलि खाट उठाइन,
रोवत लै चले डगर-डगरिया ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
संग चली वह सूखी लकरिया ॥

विषयोमे वैराग्य हुए बिना ईश्वरमें अनुराग नहीं हो सकता। ईश्वरानुराग बिना आनन्दकी प्राप्ति असम्भव है। अनित्य, परिवर्तनशील और क्षणभंगुर विषयोंमे आनन्दकी कोई सम्भावना नहीं!

बाहरी त्यागका नाम विषय-त्याग नहीं है

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार मनुष्यको विषयोका परित्याग करनेके लिये सदा सचेष्ट रहना चाहिये। अवश्य ही केवल घर-बार, माता-पिता, स्त्री-पुत्रादिको त्यागकर जङ्गलमें चले जानेका नाम विषय-त्याग नहीं है। विषयासक्तिका त्याग ही वास्तविक विषय-त्याग है। जबतक आसक्ति है, तबतक गृहादि त्यागसे कोई खास लाभ नहीं होता। आसक्ति अविद्याजनित मोहसे होती है। जहाँतक बुद्धि मोहसे ढकी हुई है, वहाँतक विषयोंसे वास्तविक वैराग्य नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥
(गीता २ । ५२)

हे अर्जुन ! जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलसे निकल जायगी तभी तू सुने हुए और सुने जानेवाले सब विषयोसे वैराग्यको प्राप्त होगा । इस मोहको हटानेका ही प्रयत्न करना चाहिये । जबतक मनसे विषयोकी अनुरक्ति दूर नहीं होती तबतक केवल बाहरी त्यागद्वारा मनसे यह मोह कभी दूर नहीं होता ।

दाढ़ी मूँछ मुँड़ाइकै, हुआ जु घोटमघोट ।
मनको क्यों मूँड़ा नहीं, जामें भरिया खोट ॥

अतएव–

तस्मात्तत्साधनं नित्यमाचेष्टव्यं मुमुक्षुभिः ।
यतो मायाविलासाद्वै निर्वृतं परमश्नुते ॥

मुमुक्षु पुरुषको मनका मोह दूर करनेवाले उस यथार्थ वैराग्यसाधनका नित्य अभ्यास करना चाहिये, जिससे मायाके कार्य इस नश्वर जगत्से सहज ही छुटकारा मिल सके ।

एक लालसा

वनका परम ध्येय स्थिर हो जानेपर जब उसके अतिरिक्त अन्य सभी लौकिक-पारलौकिक पदार्थों के प्रति वैराग्य हो जाता है, तब साधकके हृदयमें कुछ दैवी भावोंका विकास होता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध सात्त्विक बनता जाता है, इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं, मन विषयोंसे हटकर परमात्मामें एकाग्र होता है, सुख-दुःख, शीतोष्णका सहन सहजहीमें हो जाता है, संसारके कार्योंसे उपरामता होने लगती है, परमात्मा और उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तथा सन्त-शास्त्रोंकी वाणीमें परम श्रद्धा हो जाती है, परमात्माको छोड़कर दूसरे किसी पदार्थसे मेरी तृप्ति होगी या मुझे परम सुख मिलेगा, यह शंका सर्वथा मिटकर चित्तका समाधान हो जाता है। फिर उसे एक परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उसकी सारी क्रियाएँ केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये होती हैं। वह सब कुछ छोड़कर एक परमात्माको ही चाहता है। इसीका नाम मुमुक्षा या शुभेच्छा है। मुमुक्षा तो इससे पहले भी जाग्रत् हो सकती है परन्तु वह प्रायः अत्यन्त तीव्र नहीं होती। ध्येयका निश्चय, वैराग्य, सात्त्विक सम्पत्ति आदिकी प्राप्तिके बाद जो मुमुक्षुत्व होता है वही अत्यन्त तीव्र हुआ करता है। भगवान्

श्रीशङ्कराचार्यने मुमुक्षुत्वके तीव्र, मध्यम, मन्द और अतिमन्द ये चार भेद बतलाये है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेदसे त्रिविध[1] होनेपर भी प्रकार-भेदसे अनेकरूप दुःखोंके द्वारा सर्वदा पीड़ित और व्याकुल होकर जिस अवस्थामे साधक विवेकपूर्वक परिग्रहमात्रको ही अनर्थकारी समझकर त्याग देता है, उसको तीव्र मुमुक्षा कहते हैं। त्रिविध तापका अनुभव करने और सत्—परमार्थ वस्तुको विवेकसे जाननेके बाद, मोक्षके लिये भोगोंका त्याग करनेकी इच्छा होनेपर भी संसारमें रहना उचित है या त्याग देना, इस प्रकारके संशयमे झूलनेको मध्यम मुमुक्षा कहते हैं। मोक्षके लिये इच्छा होनेपर भी यह समझना कि अभी बहुत समय है, इतनी जल्दी क्या पड़ी है, संसारके कामोंको कर लें, भोग भोग लें, आगे चलकर मुक्तिके लिये भी उपाय कर लेंगे। इस प्रकारकी बुद्धिको मन्द मुमुक्षा कहते हैं और जैसे किसी राह चलते मनुष्यको अकस्मात् रास्तेमे बहुमूल्य मणि पड़ी दिखायी दी और उसने उसको उठा लिया, वैसे ही संसारके सुख-भोग भोगते-भोगते ही भाग्यवश कभी मोक्ष मिल जायगा तो मणि पानेवाले मुसाफिरको भाँति हम भी धनी हो जायँगे, इस प्रकारके मूढ-मतिवालोंको

---

१ अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक रोग आदिमे होनेवाले दुःखोंको आध्यात्मिक; अनावृष्टि, अतिवृष्टि, वज्रपात, भूकम्प, दैव-दुर्घटना आदिसे होनेवाले दुःखोंको आधिदैविक और दूसरे मनुष्यो या भूतप्राणियों-से प्राप्त होनेवाले दुःखोंको आधिभौतिक कहते हैं।

बुद्धिको अतिमन्द मुमुक्षा कहते हैं। बहुजन्मव्यापी तपस्या और श्रीभगवान्‌की उपासनाके प्रभावसे हृदयके सारे पाप नष्ट होनेपर भगवान्‌की प्राप्तिके लिये तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर मनुष्यको इसी जीवनमें भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—*'यस्तु तीव्रमुमुक्षुः स्यात् स जीवन्नेव मुच्यते।'* इस तीव्र शुभेच्छाके उदय होनेपर उसे दूसरी कोई भी बात नहीं सुहाती, जिस उपायसे उसे अपने प्यारेका मिलन सम्भव दीखता है, वह लोक-परलोक किसीकी कुछ भी परवा न कर उसी उपायमें लग जाता है। प्रिय-मिलनकी उत्कण्ठा उसे उन्मत्त बना देती है। प्रियकी प्राप्तिके लिये वह तन-मन-धन, धर्म-कर्म सभीका उत्सर्ग करनेको प्रस्तुत रहता है। प्रियतमकी तुलनामे, उसकी दृष्टिसे सभी कुछ तुच्छ हो जाता है, वह अपने आपको प्रिय-मिलनेच्छापर न्योछावर कर डालता है। ऐसे भक्तोका वर्णन करते हुए सत्पुरुप कहते हैं—

प्रियतमसे मिलनेको जिसके प्राण कर रहे हाहाकार।
गिनता नहीं मार्गकी दूरीको, वह कुछ भी, किसी प्रकार॥
नहीं ताकता, किंचित् भी, शत-शत बाधा-विघ्नोंकी ओर।
दौड़ छूटता जहाँ बजाते मधुर-वंशरी नन्दकिशोर॥

—भूपेन्द्रनाथ सान्याल

प्रियतमके लिये प्राणोंको जो हथेलीपर लिये घूमते हैं ऐसे प्रेमी साधक! उनके प्राणोंकी सम्पूर्ण व्याकुलता, अनादिकालसे लेकर

अबतककी समस्त इच्छाएँ उस एक ही प्रियतमको अपना लक्ष्य बना लेती है। प्रियतमको शीघ्र पानेके लिये उनके प्राण उड़ने लगते हैं। एक सज्जनने कहा है कि 'जैसे बाँधके टूट जानेपर जल-प्लावनका प्रवाह बड़े वेगसे बहकर सारे प्रान्तके गाँवोको बहा ले जाता है, वैसे ही विषय-तृष्णाका बाँध टूट जानेपर प्राणोमे भगवत्प्रेमके जिस प्रबल उन्मत्त वेगका सञ्चार होता है, वह सारे बन्धनोको जोरसे तत्काल ही तोड़ डालता है। प्रणयीके अभिसारमे दौड़नेवाली प्रणयिनीकी तरह उसे रोकनेमे किसी भी सासारिक प्रलोभनकी प्रबल शक्ति समर्थ नहीं होती, उस समय वह होता है अनन्तका यात्री—अनन्त परमानन्द-सिन्धु-संगमका पूर्ण प्रयासी!' घर-परिवार सबका मोह छोड़कर, सब ओरसे मन मोड़कर वह कहता है—

बन बन फिरना बेहतर हमको रतन-भवन नहिं भावै है।
लता तले पड़ रहनेमें सुख नाहिंन सेज सुहावै है॥
सोना कर धर शीस भला अति, तकिया ख्याल न आवै है।
'ललितकिशोरी' नाम हरीका जपि-जपि मन सचु पावै है॥
अब बिलम्ब जनि करो लाड़िली कृपा-दृष्टि टुक हेरो।
जमुना-पुलिन गलिन गहवरकी विचरूँ साँझ-सवेरो॥
निसिदिन निरखौं जुगुल-माधुरी रसिकनते भट-भेरो।
'ललितकिशोरी' तन-मन आकुल श्रीवन चहत बसेरो॥

—ललितकिशोरी

एक नन्दनन्दन प्यारे व्रजचन्दकी झाँकी निरखनेके सिवा

उसके मनमें फिर कोई लालसा ही नहीं रह जाती, वह अधीर होकर अपनी लालसा प्रकट करता है—

एक लालसा मनमहँ धारूँ।
बंशीवट, कालिन्दी-तट नट-नागर नित्य निहारूँ॥
मुरली-तान मनोहर सुनि सुनि तनु-सुधि सकल बिसारूँ।
छिन-छिन निरखि झलक अँग-अंगनि पुलकित तन-मन वारूँ॥
रिझऊँ श्याम मनाइ, गाइ गुन, गुंज-माल गल डारूँ।
परमानन्द भूलि सिगरौ जग, श्याम हि श्याम पुकारूँ॥

—अकिञ्चन

बस, यही तीव्रतम शुभेच्छा है।

साधनके विघ्न

वास्तविक शुभेच्छा उत्पन्न होनेके बाद तो प्रायः वह कभी मन्द नहीं पड़ती, परन्तु आरम्भमें साधकके मार्गमें अनेक विघ्न आया करते हैं। अतः उन विघ्नोंसे बचनेके लिये निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिये। कुछ प्रधान विघ्न ये हैं—

स्वास्थ्यका अभाव

सबसे पहला विघ्न है स्वास्थ्यका बिगड़ जाना। अतएव साधकको स्वास्थ्यरक्षाके लिये संयम और नियमित खान-पान करना चाहिये। स्वास्थ्य जबतक ठीक रहता है तभीतक मनुष्य साधन कर सकता है। रोगपीड़ित शरीरसे साधन बनना प्रायः असम्भव है। अवश्य ही स्वास्थ्य बनाये रखनेका लक्ष्य भोगविलास नहीं, ईश्वरप्राप्ति ही होना चाहिये। परन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि ईश्वरप्राप्ति साधन बिना नहीं हो सकती और साधन करनेके लिये स्वस्थ शरीरकी आवश्यकता है। इसलिये सोने, काम करने, खाने-पीने आदिके ऐसे नियम रखने चाहिये जिनसे शरीरका स्वस्थ रहना सम्भव हो। प्रकृति-सेवन, नियमित व्यायाम और आसनोंसे स्वास्थ्यको बड़ा लाभ पहुँचता है।

खान-पानमें असंयम

दूसरा विघ्न आहारकी अशुद्धि और असंयम है। वहुधा खानपानके असंयमसे ही स्वास्थ्य बिगड़ता है। इतना ही नहीं, इससे मानसिक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिये हमारे शास्त्रकारोंने आहार-शुद्धिपर बड़ा ज़ोर दिया है। अन्नके अनुसार ही मन बनता है। मनुष्य जिस प्रकारका भोजन करता है उसके भाव, विचार, बुद्धि और स्फुरणाएँ प्रायः वैसी ही होती हैं। जो लोग मास, मद्य आदि तामसिक पदार्थोंका सेवन करते हैं, उनमें निष्ठुरता, क्रूरता और निर्दयता अधिक देखनेमें आती है। प्राणियोंकी अकारण हिंसामें भी सच्चे हृदयसे उनको दुःख नहीं होता। तामसी-राजसी आहारसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, मत्सर आदि दोष उत्पन्न होकर साधकके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यको बिगाड़ देते है, जिससे वह साधन-पथसे गिर जाता है। अधिक मिर्चवाला, अधिक नमकीन, अधिक खट्टा, अधिक तीखा, अधिक कड़वा, गरमागरम, अत्यन्त रूखा आहार राजसी तथा वासी, सड़ा हुआ, जूँठा, अपवित्र, दुर्गन्धयुक्त आदि आहार तामसी माना गया है। वन पड़े जहाँतक साधकको मसालोंका व्यवहार छोड़ देना चाहिये। अधिक घी और मीठेकी भी आवश्यकता नहीं है। दही नहीं खाना चाहिये। मादक द्रव्योंका सेवन विल्कुल नहीं करना चाहिये। जिस आहारमें वहुत अधिक खर्च

पड़ता हो, वह आहार भी साधकके लिये उपयुक्त नहीं है, चाहे वह धनी हो या गरीब। धनी यदि आहारमें बहुत ज्यादा खर्च करता है तो उसके लिये तो वह प्रमाद है ही, परन्तु गरीबोंपर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। देखादेखी उनका भी मन ललचाता है। उनके पास पैसे होते नहीं, इन्द्रियाँ ज़ोर देती हैं अतएव उन्हें बहुमूल्य आहारके लिये अन्यायसे चोरी आदि करके धन कमानेमें प्रवृत्त होना पड़ता है। जो धन अन्याय-से कमाया हुआ है, उस धनके अन्नका मनपर बहुत बुरा असर पड़ता है, इसीलिये आहारशुद्धिमे जातिकी अपेक्षा न्याय और धर्मसे उपार्जित अन्नका महत्त्व अधिक है। चोर, मांस-भोजी, दूसरोंकी गाँठ काटनेवाले, छली-कपटी, घूसखोर, व्यभिचारी और अन्यायी ऊँची जातिवाले पुरुषकी अपेक्षा सत्यपरायण, सत् कमाई करनेवाले, इन्द्रिय-जयी, न्यायी, सरल शूद्रका अन्न शुद्ध और पवित्र है, क्योंकि उससे बुद्धिकी वृत्तियाँ नहीं विगड़तीं। यथासम्भव आहार अल्प करना अच्छा है।

सन्देह

तीसरा विघ्न है साधनमे सन्देह। मनुष्य एक वार किसीके कहनेसे साधनमें लगता है पर साधन आरम्भ करते ही उसे सिद्धि नहीं मिल जाती, इससे वह अपने साधनमे सन्देह करने लगता है। यह सन्देह वहुत अच्छे श्रद्धालु पुरुषोंको भी प्रायः हो जाया

करता है। उसकी बुद्धिमें समय-समय यह भावना होती है कि 'न मालूम ईश्वर हैं या नहीं, हैं तो मुझे मिलेंगे या नहीं, मैं जो साधन करता हूँ सो ठीक है या नहीं। ठीक होता तो अबतक मुझे लाभ अवश्य होता, हो-न-हो साधनमें कोई गड़बड़ है।' इस तरहके विचारोंसे उसका साधन शिथिल पड़ जाता है। साधनकी शिथिलतासे लाभ और भी कम होता है जिससे उसका सन्देह भी और बढ़ने लगता है। यों होते-होते अन्तमें वह साधनसे च्युत हो जाता है। साधकको सबसे पहले तो भगवान्‌के अस्तित्वमें दृढ़ विश्वास करना होगा, फिर अपने साधनपर श्रद्धा और विश्वास रखकर उसे करते ही रहना पड़ेगा। जैसे कई तरहकी बीमारियोंमें फँसे हुए मनुष्यको औषधसेवनसे किसी एक बीमारीके नष्ट हो जानेपर भी लाभ नहीं मालूम होता, इसी प्रकार मलसे पूर्ण अन्तःकरणमें तनिक-से मलका नष्ट होना दीखता नहीं, परन्तु यह निश्चय रखना चाहिये कि सच्चे साधनसे लाभ अवश्य होता है, साधनमे मनुष्य जितना आगे बढ़ेगा, उतना ही उसे लाभ अधिक प्रतीत होगा। फिर उसे इस बातका पता लग जायगा कि भगवत्-सम्बन्धी बातें केवल कल्पना नहीं, परन्तु ध्रुव सत्य हैं।

सद्‌गुरुका अभाव

ऐसे यथार्थ साधनमें प्रवृत्त होने और रहनेके लिये सद्‌गुरुकी आवश्यकता है। सद्‌गुरुका अभाव ही सच्चे साधनसे साधकको अपरिचित रखता है और इसीसे वह श्रद्धारहित होकर साधन छोड़

देता है। यह विषय बहुत ही विचारणीय है क्योंकि वर्तमानकालमें सच्चे त्यागी, अनुभवी सद्गुरुओंकी बहुत कमी हो गयी है। यों तो आजकल गुरुओंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है, जिधर देखिये, उधर ही गुरु और उपदेशकोंकी भरमार है। परन्तु इन गुरुओंके समुदायमें अधिकांश दम्भी, दुराचारी, परधन और परस्त्री-कामी, नाम चाहनेवाले, पूजा करानेवाले, बिना ही साधनके अपनेको अनन्य भक्त, परम ज्ञानी, यहाँतक कि ईश्वरतक बतलानेवाले कपटी पाये जाते हैं। इसीसे सच्चे उपदेशकोंका भी आज कोई मूल्य नहीं रहा। ऐसी स्थितिमें सद्गुरुका चुनाव करना बड़ा कठिन है। तथापि मामूली कसौटी यही समझनी चाहिये कि जो पुरुष किसी भी हेतुसे धन नहीं चाहता और किसी भी कारणसे स्त्री या स्त्री-संगियोंका संग करना नहीं चाहता, जिसका व्यवहार सरल और सीधा है और जिसके उपदेशोंके अनुसार कार्य करनेसे वास्तविक लाभ होता नजर आता है, ऐसे निःस्वार्थी पुरुषके बतलाये हुए मार्गसे चलनेमें कोई बाधा नहीं है। धन-स्त्री, मन्त्र-यन्त्र, भूत-प्रेत और चमत्कार आदिकी बातें करने, चाहने, समझाने और प्रचार करनेवाले पुरुषों-से दूर रहना अच्छा है। परन्तु किसी अच्छे पुरुषको पाकर उसके बतलाये हुए साधनको छोड़ना भी नहीं चाहिये। जहाँतक उसमें कोई भारी दोष न दीखे, वहाँतक उसपर सन्देह न करके साधनमें लगे रहना चाहिये। नित नये गुरु बदलनेसे साधनमें बड़ी गड़बड़ी मच जाती है। क्योंकि अच्छे पुरुष भी भिन्न-भिन्न मार्गोंसे साधन करने-

वाले होते हैं, लक्ष्य एक होनेपर भी मार्ग अनेक होते हैं। आज एकके कहनेसे प्राणायाम शुरू किया, कल दूसरेकी बात सुनकर हठयोग साधने लगे, परसों तीसरेके उपदेशसे नाम-जप आरम्भ किया और चौथे दिन चौथेके व्याख्यानके प्रभावसे वेदान्तका विचार करने लगे, इस तरह जगह-जगह भटकने और बात-बातमें साधन बदलते रहनेसे कोई-सा साधन भी सिद्ध नहीं होता। इसीलिये साधनमे सद्गुरुकी आज्ञानुसार एकनिष्ठा और नियमानुवर्तिताकी बड़ी आवश्यकता है।

नियमानुवर्तिताका अभाव

नियत समयपर सोना, उठना, भोजन करना मनके एकाग्र होनेमे बड़े सहायक होते हैं। नियमानुवर्तिताका अभाव साधनमें एक भारी विघ्न है। कोई नियम न रहनेसे दिनचर्यामें बड़ी गड़बड़ी रहती है। जीवन भी इसी तरह गड़बड़ीमें बीतता है। दिन-रातके चौबीस घंटोंमें कम-से-कम तीन घंटेका नियत समय ईश्वर-चिन्तन और ध्यानके लिये अलग रखना चाहिये। किसी अड़चन-वश एक साथ लगातार इतना समय न मिलता हो तो प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय मिलकर समय निकालना चाहिये, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि समय, स्थान, आसन और प्रणालीमें वार-बार परिवर्तन न किया जाय।

प्रसिद्धि

साधनमें एक बड़ा भारी विघ्न 'साधककी प्रसिद्धि' है।

जब लोग जान जाते हैं कि अमुक मनुष्य साधन करता है, तब उसके प्रति स्वाभाविक ही कुछ लोगोंकी श्रद्धा हो जाती है, जिनकी श्रद्धा होती है वे समय-समयपर मन, वाणी, शरीरसे उसका आदर करने लगते हैं। जिन्हे आदर, मान आदि प्रिय नहीं होते, ऐसे मनुष्य संसारमें सदासे ही बहुत थोड़े हैं। साधक भी मनुष्य है, उसे भी आदर, मान, प्रतिष्ठा आदि प्रिय प्रतीत होते हैं। अतएव ज्यो-ज्यो उसे इनकी प्राप्ति होती है, त्यो-ही-त्यों उसकी लालसा अधिक लोगोसे अधिक-से-अधिक सम्मान प्राप्त करनेकी होने लगती है। इससे परिणाममे उसका ईश्वर-सम्वन्धी साधन सम्मान-प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करनेके साधनरूपमें वदल जाता है। जिस कार्य, जैसी बोलचाल, जैसे आचरण और जिस तरहकी कार्य-वाहियोंसे सम्मान मिलता हो, वस, उन्हींको करना उसके जीवनका लक्ष्य वन जाता है। इससे ज्यों-ज्यों उसका परमार्थ-साधन घटता और छूटता है त्यों-ही-त्यो उसका तेज, निःस्पृहता, उदासीन-भाव, उसकी सरलता, ईश्वरीय श्रद्धा और परमार्थ-साधना नष्ट होती जाती है। उसके हृदयमे लोगोको रिझाकर उन्हें प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे चापलूसी, कामना, पक्षपात, कपट, अश्रद्धा और परमार्थविमुख कार्योंमें प्रवृत्ति आदि गिरानेवाले भावसमूह उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे वह और भी हतप्रभ होकर अपने प्रशंसकोंसे दव जाता है। वे प्रशंसक भी फिर पहले-जैसे सच्चे सरल श्रद्धालु नहीं रहते, उनके आदर-मान देनेमें भी कपट भर जाता है। शेषमे दोनो ही परमार्थसे

सर्वथा गिरकर पाप-पंकमें फँस जाते है। शुभ कर्म और सदाचरण करनेवालोंके विरोधी तामसी प्रकृतिके मनुष्य भी संसारमें सदासे रहते ही हैं। उनका द्वेष तो पहलेसे रहता ही है, ऐसे समयमें साधक और उसकी मण्डलीको सब प्रकार हीनपुरुषार्थ देखकर उन्हें विशेष मौका मिल जाता है। वे इन्हे छल-बल-कौशलसे और भी गिरानेकी चेष्टा करते हैं जिससे परस्पर वैर ठन जाता है। दोनों ओरकी शक्तियाँ एक दूसरेके छिद्रान्वेषण और उनपर मिथ्या दोषारोपण कर उन्हें नीचा दिखाने और गिरानेमें ही खर्च होने लगती है, जिससे जीवन कष्ट और अशान्तिमय बन जाता है। साधकका सत्त्वमुखी हृदय इस समय तमसाच्छादित होकर क्रोध, मोह और दम्भसे भर जाता है। इन सब दोषोंपर विचारकर जहाँतक बने, साधक प्रसिद्ध होनेकी चेष्टा कदापि न करे। अपने साधनको यथासम्भव खूब छिपावे, उपदेशक या आचार्यका पद कभी भूलकर भी ग्रहण न करे, जगत्के लोग उसमें अपनेसे कोई विशेषता न समझें, इसीमे उसका भला है। मतलब यह कि भजन-साधनको यथासम्भव साधक न तो प्रकट करे और न दिखावे ही। वह लोगोंसे अपनेको श्रेष्ठ भी न समझे, क्योकि इससे भी अपनेमें अभिमान और दूसरोंके प्रति घृणा उत्पन्न होनेको स्थान रहता है। जो साधक अपने साधनकी स्थितिसे अपनेको ऊँचा समझता या लोगोंमें प्रकट करता है वह तो गिरता ही है, परन्तु वह जितना हैं, उतना भी प्रकट करनेमें उपर्युक्त प्रकारसे गिरनेका ही भय रहता है। साधककी

भलाई इसीमें है कि वह जितना है, दुनियाँ उसको सदा उससे कम ही जाने। 'बाहरसे नीचे रहकर अन्दरसे ऊँचा उठते जाना' ही साधकके लिये कल्याणप्रद है।

कुतर्क

साधनमे एक विघ्न है तर्कबुद्धिका विशेष बढ़ जाना। जहाँ बात-बातमें तर्क होता है वहाँ साधनमें श्रद्धा स्थिर नहीं रहती। श्रद्धाका अभाव स्वाभाविक ही साधनको शिथिल कर देता है। यद्यपि इस दम्भ, कपट-पाखण्ड और बाहरी चमक-दमकके युगमें भण्ड, नररूपधारी व्याघ्र-गुरुओं, भक्तों और साधु कहलानेवालोंके झुण्डोंसे बचनेके लिये तर्कबुद्धिकी बड़ी आवश्यकता है, परन्तु जब तर्क बढ़कर मनुष्यके हृदयको अत्यन्त सन्देहशील बना देता है तब उसके लिये किसी भी साधनमे मन लगाकर प्रवृत्त रहना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है *'संशयात्मा विनश्यति।'* सत्यकी खोजके लिये तर्क करना उचित है पर हठ और अभिमानसे कुतर्कका आश्रय लेना सर्वथा अनुचित है। जो साधक शास्त्र और सद्‌गुरुके वचनोंमें विश्वास नहीं करता वह सत्यका अन्वेषणकर उसकी प्राप्ति कभी नहीं कर सकता। इसलिये कुतर्कसे सदा बचना चाहिये।

स्त्यान

साधनमें एक विघ्न है स्त्यान यानी चेष्टा छोड़ देना। कुछ दिन साधन करनेपर मनकी ऐसी दशा हुआ करती है। साधारणतः साधक

अनेक प्रकारकी असाधारण आशाओंको लेकर साधनमे लगता है, उसकी वे आशाएँ जब थोड़े-से साधनसे पूरी नहीं होतीं तब वह साधनसे उदासीन होकर चेष्टारहित बन जाता है, मन निकम्मा रहता नहीं, जब वह सत् चेष्टासे हट जाता है तब कुचेष्टा करने लगता है,परिणाममें उसका पतन हो जाता है। इससे कभी उत्साह-हीन होकर चेष्टा नहीं छोड़नी चाहिये।

अल्पमें सन्तोष

एक विघ्न है साधनमें सन्तोष करना यानी अल्प लाभको ही पूर्ण लाभ समझकर साधन छोड़ बैठना। साधनमे लगा हुआ मनुष्य ज्यों-ज्यो आगे बढता है त्यों-ही-त्यों उसे विलक्षण आनन्द मिलता है। संसारमे रमे हुए मनुष्य उस आनन्दकी कल्पना भी नहीं कर सकते। साधकने अबसे पहले जिस आनन्दका कभी स्वप्न भी नहीं देखा, वैसा आनन्द—सांसारिक पदार्थोंसे प्राप्त होने-वाले आनन्दसे दूसरी ही तरहका अपूर्व आनन्द पाकर वह अपनेको कृतकृत्य समझ लेता है। वह इस बातको भूल जाता है कि वह जिस आनन्दधामका पथिक बना है उस परमानन्दका तो यह एक कण-मात्र है। वह जिस स्वर्गीय राजप्रासादमें जा रहा है यह उससे बहुत ही बाहरकी एक छोटी-सी कोठरीका कोनामात्र है। इसीलिये वह इस संसारसे विलक्षण आनन्दधामके अपूर्ण आनन्दको पाकर उसीमें रम जाता है, और आगे बढ़नेकी आवश्यकता नहीं समझता। साधकको परमार्थके मार्गमें अनेक विलक्षण लक्षण दीख पड़ते हैं; कोई

शान्तिका महान् शान्त समुद्र देखता है, कोई अपूर्व आनन्दमें मनको डूबा हुआ देखता है, किसीको जगत् अखण्ड आनन्दसे परिपूर्ण होता दीख पड़ता है, किसीको परम ज्योतिके दर्शन होते हैं, कभी-कभी अनेक आश्चर्यमय स्वर्गीय स्वर सुनायी देते हैं, कभी अद्भुत आनन्दमय दृश्य (**Visions**) दिखलायी पड़ते हैं। अवश्य ही ये सब शुभ लक्षण है परन्तु इन्हे पूर्ण मानकर सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये। थोड़ी-सी उन्नति करके भावी उन्नतिके लिये प्रयत्न न करना बहुत बड़ा विघ्न है। रास्तेकी धर्मशालाको ही अपना घर समझकर बैठ रहनेसे घर कभी नहीं मिलता !

कामना

साधनमें एक विघ्न है विषयोंकी कामना। वैराग्यके अभावसे ही यह हुआ करती है। जिस साधकका चित्त विषयकामनाओंसे सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता उसके साधनमार्गमें बड़े-बड़े विघ्न पड़ जाते है, क्योंकि कामना ही क्रमशः क्रोध, मोह, स्मृतिनाश और बुद्धिनाशके रूपमें परिणत होकर साधकका सर्वनाश कर डालती है। इन्द्रिय-विषयोंकी ओर दौड़नेवाले चित्तका निरन्तर भगवदभिमुखी रहना असम्भव है; अतएव कामनाओंको चित्तसे सदा दूर रखना चाहिये।

ब्रह्मचर्यका अभाव

साधनमे एक विघ्न है ब्रह्मचर्यका पूरा पालन न करना। शरीरके अन्दर ओज हुए विना साधनमे पूरी सफलता नहीं मिलती। ओज-

के लिये ब्रह्मचर्यकी बड़ी आवश्यकता है। साधक ब्रह्मचारी, वान-प्रस्थ या संन्यासी हो तब तो ब्रह्मचर्यका उसे पूरी तरह पालन करना ही चाहिये। कुमारी बहिनें और विधवा माताएँ यदि भगवत्-सम्बन्धी साधन करती हों तो उनके लिये भी यही बात है परन्तु विवाहित स्त्री-पुरुषोंको भी परमार्थसाधनके लिये यथासाध्य शीलव्रत पालन करना चाहिये। एक पुत्र हो जानेके बाद तो शीलव्रत ले लेनेमें कोई हिचक करनी ही नहीं चाहिये। परन्तु परमार्थके साधकोंको पुत्र न होनेकी भी कोई परवा नहीं करनी चाहिये। मनुष्यशरीर सन्तानोत्पादनके लिये ही नहीं मिला है, यह तो पशुयोनियोंमें भी होता है। इस शरीरसे तो साधन करके परमधन परमात्माको प्राप्त करना है। अतएव सन्तानके लिये भी यथासाध्य शीलव्रतका भंग नहीं करना चाहिये, विवाहित स्त्री-पुरुषोको अवश्य ही शीलव्रत दोनोंकी सम्मतिसे ग्रहण करना चाहिये; अन्यथा और कई तरहकी आपत्तियाँ आनेकी सम्भावना है। जो शीलव्रतका लाभ समझता हो, वही दूसरेको प्रेमसे समझाकर अपने मतके अनुकूल बना ले। तदनन्तर यथासाध्य शीलव्रतका नियम ग्रहण करे। सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि जो जितना ही अधिक ब्रह्मचर्यका पालन करेगा वह उतना ही शीघ्र परमार्थके मार्गमे आगे बढ सकेगा।

कुसंगति

एक बहुत बड़ा विघ्न है कुसंगति। कुसंगमें पड़कर बहुत आगे बढ़े हुए साधकोंका भी पतन देखा जाता है। जो लोग प्रत्यक्षरूपसे

पापमें रत है उनका संग तो सर्वथा त्याज्य है ही, परन्तु जो लोग अपनेको सन्त, भक्त, योगी या ज्ञानी प्रसिद्ध करते हो, पर जिनमें छलकपट, भोगविलास, धन-स्त्रीका अनुराग, परनिन्दा, परचर्चामें प्रेम, गर्व-अभिमान, धूर्तता-पाखण्ड आदि दोष देखनेमें आते हो उनका संग भी वास्तवमें कुसंग ही है। क्योंकि जिनमें ये सब दोष होते हैं, वे कभी सच्चे सन्त, भक्त, योगी या ज्ञानी नहीं हैं।

कुसंगसे ईश्वर, सच्चे धर्म, सदाचार और साधनमें अनादर उत्पन्न होता है। प्रतिदिन यह सुनते रहनेसे, 'क्या रक्खा है सत्संगमें? कहाँ है ईश्वर? धर्मसे क्या होता है?' इनमे अश्रद्धा हो जाती है। सदा-सर्वदा विषयोकी बाते होनेसे उनमे अनुराग और परदोष-श्रवणसे उन लोगोंके प्रति घृणा और द्वेष जाग उठता है। स्त्री, धन, पुत्र, मान आदिकी कामना उत्पन्न होकर बढने लगती है, कुतर्क बढ़ जाता है। राजस-तामस-भावोंकी पुष्टि होने लगती है। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान आदि आसुरी सम्पत्तिके दोषोका हृदयमें सञ्चार होने लगता है। स्वार्थपरता और पाखण्ड बढ़ जाते हैं। चित्त अशान्त हो जाता है।

ऐसे मनुष्य जगत्मे बहुत ही थोड़े होगे जिनके मनमे कभी बुरे विचार न उत्पन्न होते हो, क्योंकि बुरे सञ्चित प्रायः सभीके रहते हैं। केवल शुभ-सञ्चित ही हो, तब तो मनुष्यशरीर ही नहीं मिल सकता। मानव-देह सञ्चित पाप-पुण्य दोनोंके कारण ही

मिलता है । मनमें विचार सञ्चितसे होते हैं। परन्तु यदि विवेकका बल हो तो बुरे विचारोंके अनुसार कार्य नहीं होता। वे मनमें उत्पन्न होकर वहीं नष्ट हो जाते हैं । पर यदि कुसंगसे उन विचारोमें कुछ सहायता मिल जाती है तो वे *'तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायान्ति ।'* तरंगकी भाँति छोटे-से आकारमें उत्पन्न हुए बुरे विचार शीघ्र ही समुद्र बन जाते हैं और मनुष्य उनमें निमग्न होकर साधनसे सर्वथा गिर जाता है ।

कुसंग केवल मनुष्योंका ही नहीं होता। जिस देश, दृश्य, साहित्य, चित्र, विचार-भाव या वचनोंसे मनमें बुरे भावोंकी उत्पत्ति होती हो वे सभी कुसंग हैं । ऐसे स्थानमें नहीं रहना चाहिये जहाँका वातावरण तमोगुणी हो। ऐसे नाटक, खेल,सीनेमा, चित्र या अन्य दृश्य नहीं देखने चाहिये जिनसे मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, द्वेष आदि बढते हों । ऐसी पुस्तकं या पत्र आदि कभी नहीं पढ़ने चाहिये जिनसे बुरे भावोंकी मनमे जागृति होती हो । आजकलके अधिकाश समाचार-पत्रोंमें प्रायः परदोषदर्शन, परनिन्दा और विषयलिप्साकी ओर मन लगानेवाले लेख और चित्र रहते हैं, यथासम्भव इनसे बचना चाहिये । ऐसे विचार या भावोंको सुनना और मनन करना उचित नहीं, जिनसे मनमें कुसंस्कार जमते हों । ऐसे वचनोंका सुनना, बोलना भी त्याग देना चाहिये जिनसे घृणा, द्वेष, वैर, काम, क्रोध, लोभादिकी उत्पत्ति और वृद्धि होती हो । कम-से-कम परस्त्रीसंगी,

प्रमादी, अकारणद्वेषी, सन्त-साधु-शास्त्र-विरोधी, ईश्वरका खण्डन करनेवाले, दम्भी, अभिमानी, परनिन्दापरायण, लोभी, अन्यायकारी, परछिद्रान्वेषी पुरुषोंके संगसे तो साधकको यथासाध्य अवश्य ही बचना चाहिये।

परदोषदर्शन

साधनमे एक विघ्न है परदोषदर्शन। साधकको इस बातसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रखना चाहिये कि 'दूसरे क्या करते हैं।' उसे तो आत्मशुद्धिमें निरन्तर लगे रहना चाहिये। साधकको अपनी साधनाके कार्यसे इतनी फुरसत ही नहीं मिलनी चाहिये, जिससे वह दूसरेका एक भी दोष देख सके। जिन लोगोंमे दूसरोंके दोष देखनेकी आदत पड़ जाती है वे साधन-पथपर स्थिर रहकर आगे नहीं बढ़ सकते। साधकोंको हरिभक्त श्रीनारायण स्वामीजीका यह उपदेश सदा याद रखना चाहिये—

तेरे भावें जो करो, भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठिके, अपनो भवन बुहार॥

जब दोष दीखते ही नहीं, तब उनकी आलोचना करनेकी तो कोई बात ही नहीं रह जाती। दोष अपने देखने चाहिये और उन्हींको दूर करनेका यथासाध्य पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

साम्प्रदायिकता

साधनमें एक बड़ा विघ्न है साम्प्रदायिकता। इसने दूसरोंकी

अच्छी बातें भी अपने सम्प्रदायके अनुकूल न होनेसे बुरी मालूम होने लगती हैं। इसका यह मतलब नहीं कि साधक अपनी गुरु-परम्परा छोड़ दे या सद्गुरुके बतलाये हुए साधन-पथपर श्रद्धा-विश्वास रखकर तदनुसार न चले। सद्गुरुकी आज्ञानुसार निर्दिष्ट मार्गपर चलना तो साधकका अवश्य कर्तव्य है, परन्तु साम्प्रदायिक आग्रहवश दूसरोंकी निन्दा करना या दूसरोंको हीन समझना, दूसरोंके साधनमार्ग या ईश्वरकी कल्पनामें दोष दिखाना, उनका खण्डन करना, केवल बाह्य आचारोंको ही मुख्य समझना आदि साधकके लिये कभी उचित नहीं !

साधनके सहायक

विघ्नोंको साहसके साथ हटाते हुए खूब दृढ़तासे साधनमें लगे रहना चाहिये। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

(योग० १।१४)

अभ्यास जब दीर्घ कालतक निरन्तर आदरके साथ किया जाता है तब वह दृढ़ होता है। इसमे तीन बातें बतलायी हैं—अभ्यास दीर्घ कालतक करना चाहिये, निरन्तर करना चाहिये और सत्कार-बुद्धिसे करना चाहिये।

दीर्घकालसाधन

अल्प साधनसे यथार्थ वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती, जबतक अभीष्ट-प्राप्ति न हो तबतक साधन करते ही रहना चाहिये। प्राप्ति हो जानेके बाद भी साधन छोड़नेकी आवश्यकता नहीं, पहले साधन किया जाता है साध्य वस्तुकी प्राप्तिके लिये और सिद्ध हो जानेपर वही साधन स्वाभाविक हो जाता है। जिससे अभीष्ट वस्तु मिलती है, उसे कृतज्ञताके कारण भी छोड़नेको जी नहीं चाहता।

जो लोग थोड़े-से साधनसे ही बहुत बड़ा फल चाहते हैं, ऐसे जी चुरानेवाले लोगोंको प्रायः परमार्थकी प्राप्ति नहीं होती, इस मार्गमें तो नित-नया उत्साह और नित-नयी उमङ्ग चाहिये। जो आलसी हैं, जरा-सेमें ही थक जाते हैं, वे इस पथके पथिक नहीं बन सकते। यथार्थ साधक तो बुद्धदेवकी भाँति अटलभावसे कहता है—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयञ्च यातु।
अप्राप्य बोधं बहुकल्पदुर्लभं नैवासनात् कायमनश्चलिष्यते॥

इस आसनपर मेरा शरीर सूख जाय; मांस, चमड़ी, हड्डी नाश हो जायँ परन्तु बहुकल्पदुर्लभ बोध प्राप्त किये बिना इस आसनसे कभी नहीं डिगूँगा।

ऐसा साधक कालकी परवा नहीं करता। कितना ही समय क्यों न लगे, अभीष्ट वस्तुकी उपलब्धि होनी चाहिये।

निरन्तर-साधन

दीर्घ कालका यह अर्थ नहीं कि साधन तो बरसोंतक करे परन्तु उसका कोई भी नियम न हो। मनमें आया, फुरसत मिली, कुछ कर लिया, नहीं तो दो-चार दिन बाद सही। सच्ची और पूरी लगन होनेपर ऐसा हो ही नहीं सकता। जिसको बड़े जोर-की प्यास लगी होती है उसे जलके सिवा दूसरी वस्तु सुहाती ही नहीं, जबतक उसे जल नहीं मिल जाता, तबतक वह व्याकुल

रहता है और पल-पलमे केवल जलकी ही स्मृति करता है। इसी प्रकार जो परमात्मारूप स्वातीकी बूँदका पिपासु है उस चातकरूप साधकको क्षणभर भी कल नहीं पड़ती, वह तो दिन-रात उस एक ही भावमे विभोर रहता है। उसकी बुद्धिमे अपने साधनको छोड़कर अन्य सब विषयोमे गौणता आ जाती है।

सत्कार और श्रद्धा

इस प्रकार निरन्तर साधनमें लगा हुआ साधक बड़ी सत्कार-बुद्धिसे अपना कार्य करता है। जो साधक बेगारमे पकडे हुएकी भाँति साधन करते हैं या जो बला टालनेके भावसे करते है उनकी उस साधनमे आदर-बुद्धि नहीं है, आदर-बुद्धि हुए विना साधनका पूरा फल नहीं मिलता। जो लोगोके दिखलानेके लिये या केवल दिल बहलानेके लिये साधन करता है उसकी भी असलमे साधनमे श्रद्धा नहीं है।

श्रद्धालु साधक तो अपने साधनको जीवनका मुख्य कर्तव्य समझकर करता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह जिस साधनमे लगा हो, उसमे पहले पूर्ण श्रद्धा करे, विना श्रद्धाके किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। भगवान् गीतामे कहते हैं—

> अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
> असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दान, तप या कोई भी कर्म 'असत्'

कहलाता है, उससे न यहाँ कोई लाभ होता है और न परलोकमें होता है। श्रद्धा ही साधकका मुख्य बल है। श्रद्धाहीन साधकको पद-पदपर सन्देह और कुतर्कोंके थपेड़ोंसे घबराकर साधन छोडनेके लिये बाध्य होना पड़ता है!

एकान्तवास

ज्ञानके साधकके लिये भगवान्‌ने '*विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जन-संसदि*' कहकर एकान्तसेवन करने और मनुष्य-समाजसे अनुराग हटानेकी आज्ञा दी है। साधनको परिपक्व बनानेके लिये एकान्तसेवन-की अत्यन्त आवश्यकता भी है; परन्तु जबतक साधनमें पूरी लगन न हो तबतक सारा कामकाज छोड़कर, अपने ऊपर कोई जिम्मेवारी न रखकर दीर्घ कालतक एकान्तसेवन करना अधिकांश साधकोंके लिये प्रायः हानिकर होता है, इसलिये नये साधकको चाहिये कि वह परमात्माका ध्यान या प्रार्थना करनेके लिये पहले चौबीस घंटेके दिनरातमेंसे एक घंटा एकान्तसेवन करे। एकान्तमें मनमें प्रमाद-बुद्धि या आलस्य-निद्रा न सतावे तो क्रमशः समय बढ़ाना चाहिये। यथासाध्य सप्ताहमें एक दिन, महीनेमें चार-पाँच दिन, सालभरमें एक महीना ऐसा निकालना चाहिये, जो केवल परमार्थके साधन और भगवच्चर्चामें ही बीते। इससे मनको जो सात्त्विक भोजन मिलता है उससे मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहनेमें बड़ी सहायता मिलती है।

परन्तु बिना अभ्यासके एकान्तसेवनमें प्रमाद, आलस्य, निद्रा, कुप्रवृत्ति आदि तामसिक दोषोंके वश होनेका बहुत भय रहता है। साधनका अभ्यास न होनेसे समय कटना कठिन हो जाता है और निकम्मे रहनेसे प्रमाद, आलस्य उसे फँसा लेते हैं। आजकल बहुत-से साधु-संन्यासियोमे गॉजा-भॉग आदि पीने, व्यर्थ गप्पे मारने, इधर-उधरकी बाते करनेकी जो प्रवृत्ति देखी जाती है, उसका प्रधान कारण यही है कि उनके पास समय बहुत है पर काम नहीं है; इसीसे कुसङ्गतिमें पड़कर वे लोग नाना प्रकारके बुरे व्यसनोंके वश हो जाते हैं। अमीरोंके लड़के ज्यादा इसीलिये बिगड़ते है कि उनके पास समय बहुत रहता है परन्तु काम नहीं रहता। समय बितानेके लिये उन्हें व्यर्थके काम करने पड़ते है। नहीं तो क्या मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय तास-चौपड़, शतरञ्ज खेलने, व्यर्थकी गप्पे उड़ाने, तीतर-बटेर लड़ाने, परचर्चा करने, दिनभर सोने, प्रमाद करने और पापोंके बटोरनेके लिये थोड़े ही मिला है? अतएव साधकको चाहिये कि एकान्तसेवनकी आवश्यकताको समझकर उसे ईश्वरचिन्तनके अभ्यासके लिये बढ़ाते हुए भी किसी-न-किसी जिम्मेवारीके कार्यम अपनेको अवश्य लगाये रक्खे, वह काम परोपकारका हो या घरका हो, ईश्वरार्पित-बुद्धिसे आसक्ति छोडकर किये जानेवाले सभी सत्कार्य ईश्वर-भजनमे शामिल है। काममें लगे रहनेसे मनको व्यर्थ-चिन्तन या प्रमादके लिये समय ही नहीं मिलेगा। अवश्य ही काम करते समय भी ईश्वर-चिन्तनको छोड़ना नहीं चाहिये, बल्कि ईश्वर-

और दम्भाचरणसे बचनेकी सदा चेष्टा रखना आदि साधुव्यवहार है, इनमें जो जितनी उन्नति करेगा, वह उतना ही परमार्थके साधनमें अग्रसर हो सकेगा ।

साधकको इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिये कि उसके जीवनकी गति किस ओर जा रही है । यदि दैवी सम्पत्तिकी ओर है तो समझना चाहिये कि उसकी उन्नति हो रही है और यदि आसुरी सम्पत्तिकी ओर है तो अवनति हो रही है । यही कसौटी है । भक्ति या ज्ञान कथनमात्रका नाम नहीं है, यह निश्चय रखना चाहिये । भक्ति या ज्ञानके मार्गपर जो आगे बढ रहे है, उनमें दैवी सम्पत्तिके * गुणोका विकास होना अनिवार्य है ।

पापोंसे सावधानी

साधकको अन्ततः पापोसे सदा ही सावधान रहना चाहिये। पापबुद्धि जब मनमे आती है तब छोटी-सी तरङ्गके समान आती है, परन्तु यदि उसे आश्रय मिल जाता है तो वही बहुत जल्द समुद्रके समान बनकर मनुष्यको डुबो देती है । इसलिये तनिक-से भी पापकी कभी उपेक्षा न करनी चाहिये, चाहे वह शारीरिक हो

---

* दैवी और आसुरी सम्पत्तिका विवेचन श्रीगीताके १६ वें अध्यायमें देखना चाहिये । हो सके तो प्रतिदिन उसका पाठ और मनन कर अपनेमें दैवी सम्पत्तिके गुणोंको बढाने और आसुरी सम्पत्तिके अवगुणोको दूर करनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये ।

या मानसिक। साँपका या सशस्त्र डाकूका घरमे रहना उतना घातक नहीं है जितना तनिक-सी पापबुद्धिका मनमे रहना है।

कुछ लोग कह दिया करते हैं कि पाप करना तो मनुष्यका स्वभाव है या उसके प्रारब्धमे ही पापका योग है, परन्तु यह बात सर्वथा असत्य है। न तो पाप करना मनुष्यका स्वभाव है और न पापका विधान प्रारब्धमे ही है। यह तो पाप करनेवालो-की युक्तियाँ हैं, जो पापमे रत रहते हुए भी स्वभाव या प्रारब्धपर दोष मँढकर स्वयं निर्दोष बनना चाहते है। असलमे यह दुर्बल हृदयकी कल्पनामात्र है। मनुष्यका स्वभाव तो पापोसे बचकर उन सब भावोंको अपने अन्दर विकसित करनेका है जो उसे परम सत्य वस्तुके अति निकट ले जानेवाले है। पाप तो विषय-भोगोंकी आसक्तिसे होते हैं, इस आसक्तिका त्याग किये बिना मनुष्य कदापि सत्य वस्तुकी पहचान नहीं कर सकता। विषया-सक्ति तो पशुधर्म है, मनुष्योने अज्ञानसे इसे अपना स्वभाव मानकर अपनेको परमार्थसे बहुत दूर हटा रक्खा है। इसीसे हमे बारंबार दुःखोंका शिकार बनना पड़ता है। अतएव हृदयमेसे खोज-खोजकर बुरी वासनाओको निकालना चाहिये। जरा-से भी पापको आश्रय देना अपने आपको सदाके लिये दुःखरूप नरकमे डालनेकी तैयारी करना है। मनुष्यमे भगवान्‌की दी हुई ऐसी शक्ति है कि वह चाहे तो पापके परमाणुमात्रसे बचा रह सकता है। इसीलिये भगवान्‌ने आदेश दिया है कि हे मनुष्य! तू अपने आपको सम्हालकर सारे पापोंके निवासस्थान दुर्जय कामरूप शत्रुका

नाश कर, *'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।'* (गीता)

प्रभुपर विश्वास

साधकको साधनपथसे कभी न डिगने देनेका बहुत सुन्दर उपाय 'प्रभुपर अटल विश्वास' है। जो साधक परमात्माकी दयालुता, करुणा, उनके विरद, सुहृद्पन और प्रेमका तत्त्व जानकर, उनपर विश्वास रखता है, वह कभी हताश नहीं हो सकता। हम लोग जो पद-पदपर साधनसे गिर जाते हैं इसमें एक प्रधान कारण प्रभुमें विश्वासकी कमी है। भगवान् कहते हैं—'जो मुझे सब प्राणियोंका सुहृद् समझ लेता है वही परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है।' *'सुहृद सर्वभूतानां ज्ञात्वा मा शान्तिमृच्छति'* (गीता) वास्तवमें यह बहुत ठीक बात है। परमात्माको सुहृद् जान लेनेपर उसके बलपर, उसके विश्वासपर मनुष्य अपनेको सबल समझकर विषयासक्ति और पापोंको दूर करनेमें सर्वथा समर्थ हो जाता है। हम अपने नित्य सुहृद् परमात्माको नहीं पहचानते, यह हमारा बड़ा दुर्भाग्य है। साधकको यह निश्चय रखना चाहिये कि परमात्मा मेरा सबमे सच्चा सुहृद् है, नित्य संगी है, मुझे सदा पापोंसे बचाता है। मुझे तो बस, उसीकी शरण होकर उसीका चिन्तन करना चाहिये, फिर सारा भार उसीके ऊपर है। जो साधक परम विश्वासके साथ ऐसा कर लेता है वह निस्सन्देह समस्त विघ्नोंको लाँघकर परमात्माको पा लेता है। भगवान्ने कहा है, मुझमें चित्त लगानेवाला मेरी कृपासे सब प्रकारसे सङ्कटोंसे अनायास ही तर जाता है। *'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'* (गीता)

भगवान्‌के सामने दीनता
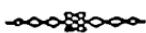
धकोंके लिये एक बहुत उत्तम उपाय है, परमेश्वरके सामने आर्त्त होकर दीनभावसे हृदय खोलकर रोना! यह साधन एकान्तमें करनेका है। सबके सामने करनेसे लोगोंमे उद्वेग होने और साधनके दम्भरूपमे परिणत हो जानेकी सम्भावना है। प्रातःकाल, सन्ध्या-समय, रातको, मध्यरात्रिके बाद या उषाकालमे जब सर्वथा एकान्त मिले, तभी आसनपर बैठकर मनमें यह भावना करनी चाहिये कि 'भगवान् यहाँ मेरे सामने उपस्थित हैं, मेरी प्रत्येक बातको सुन रहे है और मुझे देख भी रहे हैं।' यह बात सिद्धान्तसे भी सर्वथा सत्य है कि भगवान् हर समय हर जगह हमारे सभी कामोको देखते और हमारी प्रत्येक बात सुनते हैं। भावना बहुत दृढ़ होनेपर, भगवान्‌के जिस स्वरूपका इष्ट हो, वह स्वरूप साकाररूपमें सामने दीखने लगता है, एवं प्रेमकी वृद्धि होनेपर तो भगवत्कृपासे भगवान्‌के साक्षात् दर्शन भी हो सकते हैं। अस्तु !

नियत समय और यथासाध्य नियत स्थानमे प्रतिदिन नित्यकी भाँति आसन या जमीनपर बैठकर भगवान्‌को अपने सामने उपस्थित समझकर दिनभरके पापोंका स्मरणकर उनके सामने अपना सारा दोष

रखना चाहिये और महान् पश्चात्ताप करते हुए आर्त्तभावसे क्षमा तथा फिर पाप न बने, इसके लिये बलकी भिक्षा माँगनी चाहिये। हो सके तो भक्तश्रेष्ठ श्रीसूरदासजीका यह पद गाना चाहिये या इस भावसे अपनी भाषामें सच्चे हृदयसे विनय करनी चाहिये।

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमकहरामी॥
भरि भरि उदर विषयको धायो जैसे सूकर ग्रामी।
हरिजन छाँड़ि हरी बिमुखनकी निसदिन करत गुलामी॥
पापी कौन बड़ो जग मोतें सब पतितनमें नामी।
सूर पतितको ठौर कहाँ है सुनिये श्रीपति स्वामी॥

हे दीनबन्धु! यह पापी आपके चरणोंको छोड़कर और कहाँ जाय? आप-सरीखे अनाथनाथके सिवा जगत्मे ऐसा कौन है जो मुझपर दयादृष्टि करे? प्रभो! मेरे पापोका पार नहीं है, जब मैं अपने पापोंकी ओर देखता हूँ तब तो मुझे बड़ी निराशा होती है, करोड़ों जन्मोमे भी उद्धारका कोई साधन नहीं दीखता, परन्तु जब आपके विरदकी ओर ध्यान जाता है तब तुरन्त ही मनमे ढाढ़स आ जाता है। आपके वह वचन स्मरण होते हैं, जो आप रणभूमिमे अपने सखा और शरणागत भक्त अर्जुनसे कहे थे—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय! प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'अत्यन्त पापी भी अनन्यभावसे मुझको निरन्तर भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि उसने अबसे आगे केवल भजन करनेका ही भलीभाँति निश्चय कर लिया है। अतएव वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और सनातन परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। हे भाई ! तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मुझ वासुदेव श्रीकृष्णकी शरण हो जा, मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर !'

कितने जोरके शब्द है, आपके सिवा इतनी उदारता और कौन दिखा सकता है? *'ऐसो को उदार जग माँहीं।'* परन्तु प्रभो! अनन्यभावसे भजन करना और एक आपकी ही शरण होना तो मैं नहीं जानता। मैंने तो अनन्त जन्मोंमे और अबतक अपना जीवन विषयोंकी गुलामीमे ही खोया है, मुझे तो वही प्रिय लगे हैं, मै आपके भजनकी रीति नहीं समझता। अवश्य ही विषयोंके विषम प्रहारसे अब मेरा जी घबरा उठा है, नाथ ! आप अपने ही विरदको देखकर मुझे अपनी शरणमे रखिये और ऐसा बल दीजिये, जिससे एक क्षणके लिये भी आपके मनमोहन रूप और पावन नामकी विस्मृति न हो।

हे दीनबन्धो ! दीनोंपर दया करनेवाला दूसरा कौन है ?

दीनको दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जासों दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ॥
सुर नर मुनि असुर नाग साहब तौ घनेरे।
तौ लौं जौ लौं रावरे न नेकु नयन फेरे॥
त्रिभुवन तिहुँ काल विदित वेद वदति चारी।
आदि अन्त मध्य राम साहबी तिहारी॥
तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।
सुनि सुभाव सील सुजस जाचन जन आयो॥
पाहन पसु विटप विहँग अपने करि लीन्हें।
महाराज दसरथके रंक राय कीन्हें॥
तू गरीबको निवाज ! हौं गरीब तेरो।
बारक कहिये कृपालु ! तुलसिदास मेरो॥

हे तिरस्कृत भिखारियोंके आश्रयदाता ! दूसरा कौन ऐसा है जो आपके सदृश दीनोंको छातीसे लगा ले ? जिसको सारा संसार घृणाकी दृष्टिसे देखता है, घरके लोग त्याग देते है, कोई भी मुँहसे बोलनेवाला नहीं होता, उसके आप होते हैं, उसको तुरन्त गोदमें लेकर मस्तक सूँघने लगते हैं, हृदयसे लगाकर अभय कर देते हैं। रावणके भयसे व्याकुल विभीषणको आपने बडे प्रेमसे अपने चरणोंमें रख लिया, पाण्डव-महिषी द्रौपदीके लिये आपने ही वस्त्रावतार धारण किया, गजराजकी पुकारपर आप ही पैदल

दौड़े। ऐसा कौन पतित है, जो आपको पुकारनेपर भी आपकी दयादृष्टिसे वञ्चित रहा है ? हे अभयदाता! मैं तो हर तरहसे आपकी शरण हूँ, आपका हूँ, मुझे अपनाइये, प्रभो !

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुञ्ज-हारी॥
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावे।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावे॥

हे पतितपावन ! हे आर्तत्राण-परायण ! हे दयासिन्धो ! बुरा, भला जो कुछ हूँ, सो आपका हूँ, अब तो आपकी शरण आ पड़ा हूँ, हे दीनके धन ! हे अधमके आश्रय ! हे भिखारीके दाता ! मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। ज्ञान-योग, तप-जप, धन-मान, विद्या-बुद्धि, पुत्र-परिवार और स्वर्ग-पाताल किसी भी वस्तुकी या पदकी इच्छा नहीं है। आपका वैकुण्ठ, आपका परम धाम और आपका मोक्षपद मुझे नहीं चाहिये। एक बातकी इच्छा है, वह यह कि आप मुझे अपने गुलामोंमें गिन लीजिये, एक बार कह दीजिये कि 'तू मेरा है।' प्रभो ! गोसाईंजीके शब्दोंमें मैं भी आपसे इसी अभिमानकी भीख माँगता हूँ—

अस अभिमान जाइ नहिं भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

बस, इसी अभिमानमे डूबा हुआ जगत्‌में निर्भय विचरा करूँ और जहाँ जाऊँ, वहीं अपने प्रभुका कोमल करकमल सदा मस्तकपर देखूँ!—

हे स्वामी! अनन्य अवलम्बन! हे मेरे जीवन-आधार।
तेरी दया अहैतुकपर निर्भर कर आन पड़ा हूँ द्वार॥
जाऊँ कहाँ जगत्‌में तेरे सिवा न शरणद है कोई।
भटका, परख चुका, सबको, कुछ मिला न अपनी पत खोई॥
रखना दूर रहा कोईने मुझसे नजर नहीं जोड़ी।
भला किया, यथार्थ समझाया, सब मिथ्या प्रतीति तोड़ी॥
हुआ निराश उदास, गया विश्वास जगत्‌के भोगोंका।
प्रगट हो गया, भेद, सभी रमणीय विषय-सुख-रोगोंका॥
अब तो नहीं दीखता मुझको तेरे सिवा सहारा और।
जल-जहाजका कौआ जैसे पाता नहीं दूसरी ठौर॥
करुणाकर! करुणा कर सत्वर, अब तो दे मन्दिर-पट खोल।
बाँकी झाँकी नाथ! दिखाकर तनिक सुना दे मीठे बोल॥
गूँज उठे प्रत्येक रोममें परम मधुर वह दिव्य-स्वर।
हृत्तन्त्री बज उठे साथ ही मिला उसीमें अपना सुर॥
तन पुलकित हो, सुमन-जलजकी खिल जायें सारी कलियाँ।
चरण मृदुल बन मधुप उसीमें करते रहें रंगरलियाँ॥

हो जाऊँ उन्मत्त, भूल जाऊँ तन मनकी सुधि सारी।
देखूँ फिर कण-कणमें तेरी छबि नव-नीरद-घन प्यारी॥
हे स्वामिन्! तेरा सेवक बन, तेरे बल होऊँ बलवान।
पाप-ताप छिप जायें, हो भयभीत, मुझे तेरा जन जान॥

इस भावकी प्रार्थना प्रतिदिन करनेसे बड़ा भारी बल मिलता है। जब साधकके मनमें यह दृढ निश्चय हो जाता है कि मैं भगवान्‌का दास हूँ, भगवान् मेरे स्वामी है, तब वह निर्भय हो जाता है। फिर माया-मोहकी और पाप-तापोंकी कोई शक्ति नहीं जो उसके सामने आ सकें। जब पुलिसका एक साधारण सिपाही भी राज्यके सेवकके नाते राज्यके बलपर निर्भय विचरता है और चाहे जितने बड़े आदमीको धमका देता है, तब जिसने अखिल-लोकस्वामी 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थः' भगवान्‌को अपने स्वामीरूपमें पा लिया है, उसके बलका क्या पार है? ऐसा भक्त स्वयं निर्भय हो जाता है और जगत्‌के भयभीत जीवोंको भी निर्भय बना देता है!

प्रभुको आत्म-समर्पण

साधकके लिये सबसे ऊँचा, सहजमे ही सिद्धि देनेवाला साधन प्रभुके प्रति आत्म-समर्पण है। भगवच्चरणोंमें अपने आपको सौंप देना ही सारे शास्त्रोंका गुप्त रहस्य और समस्त साधनोंमे अन्तिम साधन है। सब प्रकारसे ज्ञान-विज्ञान, भक्ति-कर्म आदिका उपदेश कर चुकनेके बाद अन्तमें भगवान्‌ने यही गुप्त रहस्य अपने प्रिय सखा भक्त अर्जुनको बतलाया था। इसी परम साधनसे मनुष्य अपने जीवनको उच्च-से-उच्च स्थितिपर पहुँचा सकता है।

इस आत्म-समर्पणका अर्थ केवल जीवनके कर्मोंको त्याग हाथ-पैर सिकोड़कर बैठ जाना नहीं है। कुछ लोग भूलसे यही मान लेते हैं कि 'करने-करानेवाले भगवान् हैं, उन्हींकी शक्ति सबके अन्दर काम करती है, हमारा काम केवल चुप होकर बैठ रहना है।' परन्तु यह बड़ा भारी भ्रम है, इससे आत्म-समर्पण सिद्ध नहीं होता। आत्म-समर्पणमें सबसे पहले आत्माका अर्पण होता है, आत्माके साथ ही अहंकार, मन, बुद्धि, शरीर सभी उसके अर्पण हो जाते हैं, ऐसा होनेपर साधकको यह स्पष्ट उपलब्धि होने लगती है कि इस शरीर, मन, वाणीसे जो कुछ होता है, सो वास्तवमें भगवान् ही करा रहे

हैं। इससे पहले वह समझता था कि 'मै कर रहा हूँ', अब समझता है कि 'भगवान् कर रहे हैं।' अपने कर्त्तापनका सारा अहंकार भगवान्‌के अहंकारमें मिल जाता है, क्योंकि मन, बुद्धि उन्हींके अर्पित हो चुकी है। मन, बुद्धिका सारा स्वातन्त्र्य यहाँपर लुप्त हो जाता है, अब भगवान्‌का संकल्प ही उसका संकल्प, भगवान्‌का विचार ही उसका विचार और भगवान्‌की क्रिया ही उसकी क्रिया है। यदि भगवान् संकल्परहित, विचाररहित और क्रियारहित हैं, तो वह भी वैसा ही है, क्योंकि संकल्प, विचार और क्रिया होनेमे जिस अन्तःकरणकी आवश्यकता है, वह मन, बुद्धिरूप अन्तःकरण भगवान्‌की वस्तु बन गया है, उसपर उसका अपना कोई अधिकार नहीं रह गया। इसीलिये ऐसे साधकका सब जिम्मा भगवान् ले लेते हैं, वे कहते हैं—'जिसने मन, बुद्धि मुझे अर्पण कर दिये हैं, वह निस्सन्देह मुझको प्राप्त होता है' '*मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्*' परन्तु इसमें कर्म त्यागकर निश्चेष्ट हो रहनेका उपदेश नहीं है, इसी मन्त्रमें भगवान् कहते हैं कि 'निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर,' '*सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च*' इस बातको स्मरण रखता हुआ युद्ध कर कि यह सब भगवान्‌की लीला है, सब कुछ वही कराते हैं, मैं तो उनके हाथकी पुतलीमात्र हूँ। वह यन्त्री हैं, मै यन्त्र हूँ। जिधर घुमाते हैं, उधर ही प्रसन्नतासे घूम जाता हूँ, कभी जरा-सी भी आनाकानी नहीं करता। इसीसे अर्जुनने धर्माधर्मके सारे विचारोंका त्याग करके स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया था, कि 'मेरा

सन्देह जाता रहा, मैं अब तुम जो कुछ कहोगे, वही करूँगा' 'गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।'

ऐसा साधक कर्म-त्याग या संसार-त्यागकी इच्छा-अनिच्छा नहीं करता। भगवान्‌के खेलका खिलौना बने रहनेमें ही वह अपना सौभाग्य समझता है, क्योंकि इस समय उसकी दृष्टिमें संसारका स्वरूप पहले-का-सा जड़ नहीं रह जाता, वह सर्वदा सर्वत्र देखता है, केवल चैतन्यको और चैतन्यकी विचित्र लीलाको ! वह समस्त जगत्‌को हरिका स्वरूप और समस्त कर्म-राशिको हरिका खेल देखता है, इसीसे वह इस खेलमे सदा सम्मिलित रहकर हरिरूप जगत्‌की सेवा किया करता है । परन्तु इसमें उसका यह भाव कदापि नहीं रहता कि 'मैं जगत्‌की सेवा करता हूँ, या अपने कर्तव्यका पालन करता हूँ', क्योंकि उसका तो अब कोई कर्तव्य रह ही नहीं जाता, पुतली कर्तव्यका ज्ञान नहीं रखती, वह तो स्वाभाविक ही मालिकके इशारेपर नाचती है । उसे इस कर्तव्य-ज्ञानकी आवश्यकता भी नहीं रहती, क्योंकि उसकी बागडोर किसी दूसरे सयानेके हाथमे है । ऐसी अवस्थामें संसारके भोगोंकी तो बात ही कौन-सी है, वे तो अत्यन्त तुच्छ, नगण्य हैं, उनकी ओर झाँकना तो उस साधकसे बन ही नहीं सकता, क्योंकि वे तो उसकी दृष्टिमें भगवान्‌की लीलाके अतिरिक्त कोई खास चीज ही नहीं रह जाते । ऊँचे-से-ऊँचे लोक भी उन्हींके लीलाक्षेत्र हैं, उन लोकोंके लिये भी उसका मन नहीं चलता, वह अपनेको सदाके लिये प्रभुकी लीलाका एक खिलौना मानता है । सर्वत्र अबाधित मनोहर

नित्य-लीलामे भगवान् उसको अपने हाथमें लिये कहीं भी क्यो न रहे, उस खिलाड़ीके हाथोसे और उसकी नज़रसे तो वह हटता नहीं, फिर खेलकी जगहके एक भागसे दूसरे भागमे जानेकी इच्छा-अनिच्छा वह क्यों करने लगा ? हॉ, यदि प्रभु कभी उसे खेलसे अलग होनेको कहते हैं, अपनी नज़रसे ओझल करना चाहते हैं, तो इस बातको वह स्वीकार नहीं करता, इसीसे भागवतमे भगवान्ने कहा है कि, 'मेरे भक्त मेरी सेवाको छोड़कर मुक्तिको भी स्वीकार नहीं करते'— *'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।'*

ऐसा भक्त जगत्के सभी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। उसका सेवाकार्य, उसकी व्यापार-प्रवृत्ति, उसकी रण-शूरता और उसका ज्ञान-वितरण सभी कुछ परमात्माकी लीलाके अंग होते हैं। वह इस लीला-अभिनयका एक आज्ञाकारी चतुर पात्र होकर रहता है। उसकी क्रिया और कर्मवासना अहंकारप्रेरित न होकर प्रभुप्रेरित हुआ करती है। ऐसा दिव्य लीला-कर्मी भक्त शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे सदा ही मुक्त रहता है। भगवान्की प्राप्ति तो उसको नित्य रहती ही है, क्योंकि उसकी जीवन-डोर ही भगवान्के हाथमे रहती है। मुक्ति अवश्य ही दासत्वके लिये उसके चरणोकी ओर ताका करती है, कभी-कभी हठसे चरणोंमें चिपट भी जाती है। एक रसीले भक्त कविने बहुत ही सुन्दर कहा है—

घनः कामोऽस्माकं तव तु भजनेऽन्यत्र न रुचि-
स्तवैवाङ्घ्रिद्वन्द्वे नतिषु रतिरस्माकमतुला।

सकामे निष्कामा सपदि तु सकामा पदगता
सकामासान्मुक्तिर्भजति महिमायं तव हरे ॥

'हे हरे! हमारी तो तुम्हारे भजनमे ही गाढ़ रुचि है। अन्य किसी भी पदार्थमें नहीं है। तुम्हारे ही चरणयुगलोंमें पड़े रहनेमें हमारा अतुल प्रेम है। हे भगवन्! तुम्हारी कुछ ऐसी अपार महिमा है कि वह बेचारी मुक्ति जब सकाम विषयकामी लोगोको नापसन्द कर डालती है, तब उसी क्षण अपनेको निराश्रय समझकर बड़ी उत्सुकतासे हम भक्तोंके चरणोंमें चिपटकर हमारी चरण-सेवा करने लगती है।'

चरण-सेविका बननेपर भी ऐसे भक्त उस मुक्तिके चंगुलमें फँसना नहीं चाहते। इस तरहके ऊँचे साधकोंको सारी जिम्मेवारी स्वभावतः ही भगवान्‌के ऊपर रहती है। भगवान्‌ने अर्जुनके सामने प्रतिज्ञा करके कहा है—'मैं तुझे मुक्त कर दूँगा, तुझे कोई चिन्ता नहीं'—'*अहं त्वा मोक्षयिष्यामि मा शुचः।*' हम बड़े ही मन्दबुद्धि हैं, अविश्वासी और अश्रद्धालु हैं, विविध प्रलोभनोंमें पड़कर व्यर्थ-मनोरथ होते रहनेसे हमारा मन सन्देहसे भर गया है, जागतिक भोग-सुखोंकी तुच्छ स्पृहा और धर्म-कर्मादिके साधनोंसे इन सुखोंके प्राप्त करनेका उपाय बतलानेवाली पुष्पिता वाणीने हमें मोहित कर रक्खा है, इसीसे हम भगवान्‌की इस प्रेम-पूरित महान् प्रतिज्ञा-वाणीपर परम विश्वासकर अनन्यभावसे उनकी शरण नहीं लेते।

इसीसे बारंबार एक कष्टसे दूसरे कष्टमे पड़ते हुए संकटमय अशान्त जीवन बिता रहे हैं— पथ-भ्रष्ट पथिककी भाँति श्रान्त-क्लान्त होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। वास्तवमें यह हमारी बड़ी ही दयनीय दशा है। इस स्थितिसे छुटकारा पानेके लिये हमे अपनी दृढ़ संकल्प-शक्तिके द्वारा भगवान्को आत्मसमर्पण करनेका अभ्यास करना चाहिये। अपने प्रत्येक कर्मके मूलमें भगवत्-प्रेरणा समझने, प्रत्येक सुख-दुःख-को भगवान्का दयापूर्ण विधान समझकर उसीमे सन्तुष्ट रहने तथा निरन्तर उसका स्मरण करते हुए प्रत्येक कर्म बिना किसी भी इच्छा-अभिलाषाके यन्त्रवत् करते रहनेका अभ्यास करना चाहिये।

परन्तु केवल मुखसे, 'मैं तुम्हारे शरण हूँ' 'मै तो तुम्हें आत्म-समर्पण कर चुका' आदि शब्द कह देनेमात्रसे कुछ भी नहीं होता। अपना माना हुआ सर्वस्व उसके अर्पण कर देना होगा। अहंकार, मन, बुद्धि, शरीरका प्रत्येक संकल्प, प्रत्येक चिन्तन, प्रत्येक विचार, प्रत्येक कामना और प्रत्येक कर्म सब कुछ उसके अर्पण कर देने होंगे। भोगोंकी ओर दौड़ते हुए मन और इन्द्रियोंको लौटाकर उनकी गति सर्वथा भगवान्की ओर कर देनी पडेगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक बार भगवान्की शरण ग्रहण करनेपर मनुष्य समस्त भयसे छूट जाता है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकिकी कवितामें भगवान् श्रीरामके यह वचन सर्वथा सत्य हैं कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
(वाल्मीकिरामायण ६ । १८ । ३३)

'जो कोई प्राणी एक बार भी मेरे शरण होकर यो कहता है कि 'मैं तुम्हारा हूँ' उसे मैं अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

भगवान्‌के इस व्रतमें कोई सन्देह नहीं है, एक बार भगवान्‌के प्रति आत्म-समर्पण हो जानेपर जीव सदाके लिये अवश्य ही निर्भय हो जाता है । वास्तवमे आत्म-समर्पण होता भी एक ही बार है। समर्पणका अर्थ दान है, दान और ग्रहण एक ही कालमें एक बार ही हुआ करता है, जहाँ एक बार हो चुका, वहाँ सदाके लिये ही हो गया । परन्तु हम एक वार उनको आत्म-समर्पण करते ही कहाँ हैं ? आत्म-समर्पण या शरणका नाम जानते है, अर्थ नहीं जानते । हमारा ज्ञान, ध्यान, भजन या तो लोगदिखाऊ होता हैं या भोगोको पानेके लिये होता है । हमारे मनकी सारी वृत्तियाँ नदियोंके समुद्रमे जाकर पड़नेकी भाँति सदा संसार-सागरमें जाकर पड़ती रहती हैं, ऐसी अवस्थामे हम निर्भय कैसे हो सकते हैं, अन्तर्यामी भगवान् भला वनावटी वातोमे क्यों फँसने लगे ? सच पूछिये तो हम भाँति-भाँतिके भयोंमे फँसे हुए हैं । पुत्रके मरनेका भय है, धन जानेका भय है, कीर्त्ति-नाशका भय हैं, झूठी इज्जतका भय है, शरीर-नाशका भय है, घर-समाजके नाराज होनेका भय है। एक

भय हो तो बताया जाय ! हमने तो अपने चारो ओर भयका दल बटोर रक्खा है, इसीसे हमे आज तमाखू-सरीखी तुच्छ चीज छोड़नेमें भी स्वास्थ्य-नाशका भय रहता है, सर्वथा हानिकर रूढ़ि तोड़नेमे भी लोकलाज और समाजका भय लगता है, सच्ची बात कहनेमें भी राजका भय रहता है । इन्हीं सब भयोंके कारण हम नाना प्रकारके पापोंमे रत रहते हैं, यही आसुरी भाव है । जब-तक इन आसुरी भावोंमे फँसे रहकर हम पाप बटोरते हैं, तबतक भगवान्‌के शरण कैसे हो सकते हैं ? भगवान्‌ने तो स्वयं कहा है कि—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

(गीता ७ । १५)

'मायाने जिनका ज्ञान हरण कर लिया है, ऐसे पापी, आसुरी स्वभावके नराधम मनुष्य मुझ भगवान्‌की शरण नहीं हो सकते ।'

इन सब भयके दलोंका दलनकर, सबको पैरोंसे कुचलते हुए दृढ़ और अविराम गतिसे आगे बढ़ना होगा, तब हम निर्भय शरणपदके अधिकारी होंगे ।

एक दृष्टान्त

कुछ लोग विदेशसे दुखी होकर अपने घर जाना चाहते थे । उनका घर हिमालयकी तराईमे उत्तरकी ओर था, परन्तु उन्होंने इस बातको भूलकर दक्षिणकी ओर जाना आरम्भ कर दिया ।

घर जानेकी लगन बहुत जोरकी थी, इसलिये वे उसी उलटे मार्गपर खूब दौड़ने लगे। उन्हींके दो-चार साथी जिनको सच्चे मार्गका ज्ञान था, उत्तरकी ओर जा रहे थे, रास्तेमें उनकी परस्पर भेंट हो गयी। यथार्थ मार्गपर सीधे घरकी ओर जानेवाले लोगोंने उलटे जाते हुए लोगोंसे पूछा—'भाई! तुम सब कहाँ जा रहे हो?' उनमेंसे कुछने कहा—'हम अपने घर जा रहे हैं।' उन्हींके देशके और एक ही गाँवके ये लोग भी थे। उन्होने कहा—'भाई! घरके रास्ते तो हम लोग जा रहे हैं, तुम सब उलटे दौड़ते हुए, घरसे और भी दूर बढे चले जा रहे हो, बहुत दूर निकल जाओगे तो फिर लौटनेमें बड़ी तकलीफ होगी, इस मार्गमे कहीं तुम लोगोंको विश्राम करनेके लिये जगह नहीं मिलेगी। वृक्षकी शीतल छाया या शान्तिप्रद ठण्डा जल तो इस ओर है ही नहीं। बड़े ज़ोरकी लू चल रही है, सारा शरीर झुलस जायगा, थककर हैरान हो जाओगे, प्यासके मारे प्राण छटपटानेपर भी कहीं सरोवरके दर्शन नहीं होंगे। इसलिये इस दुखदायी विपरीत पथको छोड़कर हमारे साथ सीधे रास्ते चलो।' विपरीत-मार्गियोमे बहुतोंने तो इस बातको सुनना ही नहीं चाहा, उनकी समझसे तो इन बातोंके सुननेमें समय लगाना सुखरूप घर पहुँचनेमें देर करने-जैसा प्रतीत हुआ। कुछने बातें तो सुनीं, परन्तु विचार करनेपर उनको इन बातोंमें कुछ सार नहीं दिखलायी दिया, वे भी चले गये। कुछ लोग ठहरकर विचार करने लगे, उन्होंने सीधे रास्तेकी तरफ घूमकर

देखा, थोड़ी देर वहाँ खड़े रहे, साथ चलनेकी इच्छा भी हुई, उन्हें अपना मार्ग विपरीत भी प्रतीत हुआ परन्तु वे मोहवश पुराने साथियोंका साथ नहीं छोड़ सके, अतएव अपने मार्गमें शङ्काशील होते हुए भी वे उसी उलटे मार्गपर चल पड़े। इन लोगों-मेंसे कुछ तो आगे जाकर ठहर गये और खूब सोच-विचारकर वापस मुड़ गये एवं कुछ अपने पुराने साथियोंकी बातोंमे आकर उसी मार्गसे चल दिये ! कुछ थोड़े-से ही ऐसे निकले जो इनकी बातें सुनते ही सावधान होकर एकदम मुड़ गये, मुड़ते ही—उनका सम्पूर्ण शरीर सीधे मार्गके सामने होते ही वे सुन्दर स्वच्छ प्रकाशमय पथ और सामने ही अपना घर देखकर परम सुखी हो गये। फिर पीछेकी ओर झाँकनेकी भी उनकी इच्छा नहीं हुई। पुराने साथियोने पुकारा, वापस लौटनेको कहा, परन्तु उन्होने उधरकी ओर मुँह बिना ही फिराये उनसे कह दिया 'भाई ! हम अब इस सुखके मार्गसे वापस नहीं लौट सकते। सीधे मार्गपर आते ही हमे अपना घर सामने दीखने लगा है, घरकी प्रीति अब तो हमे मने करनेपर भी लौटने नहीं देती।' वे नहीं लौटे और सब झंझटोंसे छूटकर तुरन्त अपने घर पहुँचकर सदाके लिये सुखी हो गये।

इसी प्रकार इस संसारमे भी चार प्रकारके मनुष्य हैं—पामर, विषयी, मुमुक्षु और मुक्त। परम और नित्य सुखरूप परमात्माकी खोज सभी करते है, सभी सुखके अन्वेषणमे दौड़ते है, परन्तु

अधिकांश मनुष्य पथभ्रष्ट होकर विपरीत मार्गपर ही चलते हैं, इसीसे उन्हें सुखके बदलेमें बारंबार दुःख-कष्टोंका शिकार बनना पड़ता है। कहीं भी शान्ति-सुखके दर्शन नहीं होते! इनमेंसे जो लोग सन्मार्गपर चलनेवाले सदाचारी सन्त-महात्माओंकी वाणीको सुनना ही व्यर्थ समझते हैं, चौबीसो घंटे 'हाय धन, हाय पुत्र, हाय सुख, हाय भोग, हाय कीर्ति' आदि चिल्लाते हुए ही भटकते हैं, कहाँ जाते हैं, इसका उन्हें स्वयं भी कुछ पता नहीं है तथापि अन्धोंकी तरह चल ही रहे हैं, वे तो पामर मनुष्य हैं। दूसरे वे विषयी पुरुष हैं, जो कभी-कभी प्रसंगवश 'अकारण कृपालु सन्त-महात्माओंद्वारा कुछ परमार्थकी बाते सुन तो लेते हैं, परन्तु उनमें उन लोगोंको कोई सार नहीं दीखता, इससे वे सुनकर भी तदनुसार चलनेकी इच्छा नहीं करते। तीसरे मुमुक्षु हैं, इनमे प्रधानतः दो श्रेणियाँ है—मन्द और तीव्र। जो मन्द मुमुक्षु है, वे सत्संगमें परमार्थकी बातें मन लगाकर सुनते हैं, सन्मार्गपर चलकर भगवत्-प्राप्तिकी इच्छा भी करते हैं, मार्गकी ओर कुछ क्षणोंके लिये मुँह फिराकर यानी संसारके बाह्य भोगोसे मनकी गतिको क्षणभरके लिये रोककर ईश्वरकी ओर लगाना भी चाहते हैं परन्तु विषयी पुरुषोंके संगसे व्यामोहमें पड़कर अपनी पुरानी चाल नहीं छोड़ सकते और पुनः विषयोंमें ही दौडने लगते है। परन्तु जो तीव्र मुमुक्षु होते हैं, वे एकदम मुड़कर अपने मनकी गतिको सर्वथा ईश्वरोन्मुखी कर देते हैं। इस तरफ एक बार दृढ़ निश्चयपूर्वक पूर्णरूपसे लग जाने-

पर—भगवान्के सम्मुख हो जानेपर मनुष्यको कुछ विलक्षण ही आनन्द मिलने लगता है, परमात्मारूप परमानन्दका नित्य-निकेतन उसे अत्यन्त समीप—अपने अन्दर-बाहर सब जगह दीखने लगता है, वह फिर किसी तरह भी संसारके बाह्य रूपकी ओर मन नहीं लगा सकता, यही एक बार परमात्माके सम्मुख होना है। हम लोग बाह्यभावको—मुखके शब्दोको ही आत्म-समर्पण समझकर शास्त्रवचनोंपर सन्देह करने लगते हैं और सोचते है कि 'हम तो किसी समय एक बार भगवान्के शरणागत हो गये थे, आत्म-समर्पण कर दिया था, परन्तु अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ, इससे सम्भव है कि वाल्मीकि-रामायणका यह श्लोक प्रक्षिप्त हो या केवल रोचक वाक्य ही हों।' परन्तु यह नहीं सोचते, एक बार पूर्ण आत्म-समर्पण कर चुकनेके बाद किसी प्रकारका भय या अपने उद्धारकी चिन्ता ही कैसे हो सकती है? भगवान्को आत्म-समर्पण करनेवालेको किसका भय और उसका कैसा उद्धार? यदि भय या उद्धारकी चिन्ता है तो आत्म-समर्पण ही कहाँ हुआ? दोष भरा है हमारे अन्दर, देखते है हम रातदिन जगत्के भोग-सुख और तृप्तिकी असंख्य बाह्य वस्तुओंको, सुख ढूँढ़ते हैं उनमे, और सन्देह करते हैं भगवान् और भक्तशिरोमणि ऋषियोंके अनुभूत वाक्योंपर! कैसी विचार-विडम्बना है!

आत्म-समर्पणके लिये अपनेको दुष्कृतो—पापोंसे बचाकर आसुरी भावका आश्रय छोड़कर मायाके द्वारा अपहृत ज्ञानको

सत्कर्म और उपासनासे पुनः अर्जन करना होगा और उस ज्ञानके द्वारा परमात्माके स्वरूपको समझकर निश्चल एकनिश्चयसे अपना जीवन उन्हे अर्पण कर देना होगा। यही भगवान्के एक बार सम्मुख होना है, भगवान्के सम्मुख होते ही तत्काल सारे पापपुञ्ज भस्म हो जाते हैं, और वह मनुष्य उसी शाश्वती शान्तिरूप परम-पदको प्राप्त होता है, जहाँसे पुनः कभी उसका स्खलन नहीं होता। पापोंके छोड़नेका यह मतलब नहीं कि सारे पापोंका फल भोगनेके बाद हम भगवान्की शरण लेंगे। इसका अर्थ यही है कि अबसे पापोंको छोड़कर, अपना अवशेष जीवन भगवान्को एकनिश्चयसे अर्पण कर देना चाहिये। फिर तो भगवान् स्वयं सँभाल लेते है। भगवान्ने स्वयं कहा है—

> **अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।**
> **साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥**
> **क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।**
> **कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥**
>
> (गीता ९। ३०-३१)

'अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मुझे भजता है तो उसे साधु मानना चाहिये क्योंकि उसने आगेके लिये केवल मुझे ही भजनेका निश्चय कर लिया है। उसे केवल साधु मानना ही नहीं चाहिये, वह वास्तवमें बहुत शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और उस नित्य परम शान्तिको प्राप्त होता है। मैं यह सत्य विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।'

भगवान्‌के इन बड़े भरोसेके वचनोंपर विश्वास करके, नित्य ने अत्यन्त समीप रहनेवाले, अपने अन्दर ही बसनेवाले उस ात्माको ज्ञानके द्वारा जानकर उसकी शरण ग्रहण करनी हेये। अश्रद्धा, आलस्य, उद्योगहीनता, भय, संशय, जड़ता, ंश्वास आदि दोषोंको सब तरहसे तिलाञ्जलि देकर बड़े उत्साहसे वान्‌की विश्वलीलामें खिलौना बननेकी भावना करते हुए अग्रसर ा चाहिये।

भगवान्‌के दिव्य मन्दिरका द्वार सबके लिये सदा-सर्वदा ा है। जो उन्हें चाहेगा वे उसे ही मिलेंगे। जो उनसे प्रेम ागा, उसीसे वे प्रेम करेंगे। अवश्य ही ज्ञान बिना उनके त्रिगुणा- ा स्वरूपका पता नहीं लगता और उनके उस सत्त्वगुणसे भी वे—अति विलक्षण अनिर्वचनीय स्वरूपका पता लगे बिना यथार्थ त्म-समर्पण भी नहीं हो सकता परन्तु केवल शुष्क ज्ञानसे भी ाँतक पहुँचनेमें बड़ी-बड़ी बाधाएँ हैं, ज्ञानके साथ प्रेमामृतकी रस-धारा अवश्य ही बहती रहनी चाहिये। प्रेमके बिना—पराभक्तिके बिना केवल ब्रह्मभूत होनेसे ही भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपका तत्त्वतः ज्ञान नहीं होता।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(गीता १८। ५४-५५)

'ब्रह्मभूत होनेपर प्रसन्नचित्तवाला पुरुष न किसी वस्तुके लिये शोक करता है, न किसीकी इच्छा करता है, तब सब भूतोंमें समभावसे स्थित वह पुरुष मेरी (परमात्माकी) 'पराभक्ति' को प्राप्त करता है । उस पराभक्तिके द्वारा मुझ (परमात्मा) को तत्त्वसे भलीभाँति जानता है, इस प्रकार मैं जो और जिस प्रभाववाला हूँ, उस मुझको भक्तिद्वारा तत्त्वसे जानकर वह तुरन्त ही मुझमें प्रवेश कर जाता है ।'

अतएव प्रेमसे भगवान्‌का स्मरण करते हुए उन्हें आत्म-समर्पण करनेकी भावनाको प्रबल इच्छा शक्तिके द्वारा दिनोदिन बढ़ाना चाहिये । आत्म-समर्पणकी इच्छा ज्यों-ज्यो बलवती होगी, त्यों-ही-त्यों परमात्माके दरबारका दरवाजा आप-से-आप खुलता रहेगा और अन्तमें हृदयस्थित श्रीविष्णुचरणसे भव-भय-नाशिनी अलौकिक सुधा-धारा उत्पन्न होकर ज्ञान, वैराग्य और प्रेमरूप त्रिविध धारामें परिणत हो समस्त मन-प्राणको भगवद्रूपके प्रवाहमें बहा देगी । फिर जगत्‌का रूप तुरन्त ही बदल जायगा । फिर हमें दीख पड़ेगा—सर्वस्व हरिका, दीख पड़ेगे—सर्वत्र हरि, हरिकी नित्यलीला और उस लीलामें भी केवल हरि ही—*'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।'*

यही मुक्तिका स्वरूप है, यही साधनका पर्यवसान है, यही परम-गति है, इसीको जानने-समझनेवाले आत्माराम भक्त बडे दुर्लभ हैं— *'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः !'*

श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारकी पुस्तकें

विनय-पत्रिका-(सचित्र) तुलसीदासजीके ग्रन्थकी टीका मू० १) स० १।)
नैवेद्य-चुने हुए श्रेष्ठ निबन्धोंका सचित्र संग्रह। मू० ॥) स० ॥=)
तुलसी-दल-परमार्थ और साधनामय निबन्धोंका सचित्र संग्रह, मू० ॥)
उपनिषदोंके चौदह रत्न-१४ कथाएँ, १० चित्र, मू० ।=)
प्रेमदर्शन-नारद-भक्ति-सूत्रकी विस्तृत टीका, ३ चित्र, २०० पेज, मू० ।-)
भक्त बालक-(सचित्र) इसमें भक्त गोविन्द, मोहन, धन्ना जाट, चन्द्रहास और सुधन्वाकी सरस, भक्तिपूर्ण कथाएँ हैं, मू० ।-)
भक्त नारी-(सचित्र) इसमें शबरी, मीराबाई, जनाबाई, करमैतीबाई और रबियाकी मीठी-मीठी जीवनियाँ हैं। मू० ।-)
भक्त-पञ्चरत्न-(सचित्र) इसमें रघुनाथ, दामोदर, गोपाल चरवाहा, शान्तोबा और नीलाम्बरदासकी प्रेमभक्तिपूर्ण कथाएँ हैं। मू० ।-)
आदर्श भक्त-७ भक्तोंकी कथाएँ, ७ चित्र, पृष्ठ ११२, मू० ।-)
भक्त-चन्द्रिका-७ भगवत्-प्रेमियोंकी कथाएँ, ७ चित्र, मू० ।-)
भक्त-सप्तरत्न-७ भागवतोंकी लीलाएँ, ७ चित्र, मू० ।-)
भक्त कुसुम-६ भगवत्-अनुरागियोंकी वार्ताएँ, ६ चित्र, मू० ।-)
प्रेमी भक्त-५ प्रभु-भक्तोंकी जीवनियाँ, ७ चित्र, मू० ।-)
यूरोपकी भक्त-स्त्रियाँ-४ सेवापरायण महिलाओंके चरित्र, ३ चित्र, मू० ।)
कल्याणकुञ्ज-उत्तमोत्तम वाक्योंका सचित्र संग्रह, पृष्ठ १६४, मू० ।)
मानव-धर्म-धर्मके दश लक्षण सरल भाषामें समझाये हैं। मू० ≤)
साधन-पथ-यह तो आपके हाथमे ही है।
भजन-संग्रह-भाग ५ वाँ (पत्र-पुष्प) सचित्र सुन्दर पद्यपुष्पोंका संग्रह, =)
स्त्री-धर्मप्रश्नोत्तरी-सचित्र, पृष्ठ ५६, मूल्य -)॥
गोपी-प्रेम-सचित्र, पृष्ठ ५८, मू० -)॥
मनको वश करनेके कुछ उपाय-सचित्र, मू० -)।
आनन्दकी लहरें-सचित्र, उपयोगी वचनोंकी पुस्तक, मूल्य -)
ब्रह्मचर्य-ब्रह्मचर्यकी रक्षाके अनेक सरल उपाय बताये गये हैं। मू० -)
समाज-सुधार-समाजके जटिल प्रश्नोंपर विचार, सुधारके साधन मू० -)
वर्तमान शिक्षा-बच्चोंको कैसी शिक्षा किस प्रकार दी जाय? पृष्ठ ४५, -)
नारदभक्तिसूत्र-सटीक मू०)। दिव्य सन्देश-भगवत्प्राप्तिके उपाय)।

पता-गीताप्रेस, गोरखपुर

तत्त्व-चिन्तामणि भाग १ और २ के कुछ लेखोंकी अलग छपी हुई पुस्तकें

गीता-निबन्धावली-पृ० ८८, ... मू० =)॥
सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय-पृष्ठ ३२, मू० -)
श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश-पृष्ठ १६, दो चित्र, ... मू० -)
भगवान् क्या हैं?-पृ० ४० मू०)॥
भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय-पृष्ठ ३५, मू०)॥
सत्यकी शरणसे मुक्ति-पृष्ठ ३२, मू०)॥
व्यापारसुधारकी आवश्यकता
और व्यापारसे मुक्ति-पृष्ठ ३१, मू०)॥
गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम
कर्मयोग-पृष्ठ ४५, ... मू०)॥
त्यागसे भगवत्प्राप्ति-गुटका मू०)।
महात्मा किसे कहते हैं?-पृष्ठ १९, ... मू०)।
ईश्वर दयालु और न्यायकारी है-पृष्ठ १९, मू०)।
प्रेमका सच्चा स्वरूप-पृष्ठ २३, ... मू०)।
हमारा कर्तव्य-पृष्ठ २२, ... मू०)।
ईश्वरसाक्षात्कारके लिये
नाम-जप सर्वोपरि साधन है-पृष्ठ २२, मू०)।
धर्म क्या है?—पृष्ठ १६, ... मू०)।

पता-गीताप्रेस, गोरखपुर

भारतीय साहित्य पुस्तक-माला—२

सप्तसरिता

[भारतवर्ष की सात लोकमातायें]

अनुवादक

श्री हृषीकेश शर्मा

प्रकाशक

भारतीय साहित्य-परिषद

वर्धा

विश्वस्य मातरः सर्वाः
सर्वाश्चैव महाफला. ।
इत्येताः सरितो राजन्
समाख्याता यथास्मृति ॥

—महाभारत, भीष्मपर्व ९–३७

दूसरी बार १०००

मूल्य चार आना

जुलाई १९३७

अनुक्रमणिका

उपस्थान

हम सनातनी हिन्दू नदी का जल लेकर नदी का ही अभिषेक करते हैं। नदी हमारी लोकमाता है। अपने बचपन से लेकर अबतक भिन्न-भिन्न अवसरों में जब कभी मुझे किसी नदी में नहाने का सौभाग्य मिला है, तब बड़े अनुराग और आग्रह के साथ उस नदी का माहात्म्य भी मैंने सुना है। स्नान, पान और दान के बिना तो नदी का दर्शन सफल हो ही नहीं सकता।

बचपन से जिन नदियों के दर्शन से मैंने अपने को कृतार्थ किया है उनके नाम से अेक-अेक स्मरणाजलि भेंट करना मैंने अपना पवित्र कर्तव्य समझा। अपने आश्रमवासी विद्यार्थियों को अिसके द्वारा भारत-भक्ति की दीक्षा देने का भी मेरा कुछ विचार था।

यह लेखमाला मूल गुजराती में लिखी गयी थी। गुजरात के बाहर की १६ नदियों का मैंने अिस लेखमाला में वर्णन किया था। अपेक्षा यही थी कि अिन्हें पढकर गुजरात के भावुक नवयुवक नर्मदा, ताप्ती, मही, साबरमती, अंबिका आदि छोटी-बडी गुर्जर-नदियों को अपनी भक्ति का अर्घ्यदान करें। गुजरात ने इस 'उपस्थान' का अच्छा आदर किया। उसे देखकर हिम्मत हुअी कि राष्ट्रभाषा द्वारा अिसे सारे भारत-वर्ष के कानों तक पहुँचाऊँ। मैंने सोलह में से चुनकर सात ही नदियों के अर्घ्य अिस पुस्तिका में दिये हैं।

श्री हृषीकेश शर्मा ने मूल गुजराती से हिन्दी में अनुवाद किया है। मैं खुद हिन्दी में करता तो वह अितना साफ और शुद्ध शायद कभी न होता।

अेक सनातनी हिन्दू की भक्ति की भाषा जिस तरह की हो सकती है, वैसी ही मूल गुजराती में है। उसका हिन्दी-अनुवाद करते समय भाषा की शैली और शब्दों को बदलने से मूल वातावरण नष्ट हो जाता।

राष्ट्रभाषा के जिस आदर्श तक हम पहुँचना चाहते हैं, उस आदर्श की शायद यह शैली न हो, फिर भी प्रांतीय भाषाओं का साहित्य जब हिन्दी में आयगा तब उत्तर भारत के हमारे हिन्दू-मुसलमान भाअियों का अैसी शैलियों का आदी होना बहुत जरूरी है, उनसे मेरी अितनी ही नम्र प्रार्थना है।

यह कोअी भूगोल की किताब नहीं है, और न यह नदियों के अुपलक्ष्य में लिखी हुअी निबंधमाला है। यह तो सिर्फ अपने देश की लोकमाताओं का भक्तिपूर्वक किया हुआ अेक तरह का उपस्थान मात्र है। हमारे आर्य पूर्वजों की नदी-भक्ति प्रसिद्ध ही है। आज भी वह क्षीण नहीं हुअी है। आज भी यात्रियों की छोटी-बड़ी मानव-नदियां तीर्थ स्थानों की ओर बह-बहकर उसी प्राचीन भक्ति के अुतने ही ताजे, सजीव और जागृत होने का प्रमाण दे रही हैं। क्या अच्छा हो कि भक्त-हृदय अिन भक्ति के उद्‌गारों को सुनकर सतुष्ट हो और युवकों में अपनी लोकमाताओं का दुग्धपान करके अपनी संस्कृति को पुष्ट करने की अभिलाषा जाग उठे!

काका कालेलकर

[१]

सखी मार्कण्डी

क्या हरेक नदी माता होती है ? नहीं। मार्कण्डी तो मेरी बचपन की साथिन है। वह अितनी छोटी है कि मैं अुसे अपनी बड़ी बहिन भी नहीं कह सकता। अपने खेत में, अुस गूलर के पेड के नीचे जब दुपहरी की छाँह में जाकर बैठ जाता हूँ, मार्कण्डी का शीतल और मद-मद पवन मुझे ज़रूर बुलाता है। अुसके किनारे कई बार बैठा हूँ और हवा की लहरों से डोलती हुअी घास की प्यारी-प्यारी पत्तियों को घण्टों निहारता रहा हूँ। मार्कण्डी के तीर पर अैसा असाधारण और अद्भुत तो कुछ भी नहीं है। न खास किस्म के कोअी फूल हैं, न रग-बिरगी तितलियाँ और न खूबसूरत लुभावने पत्थर ही। अपने कल-कूजन से चित्त को बेचैन करनेवाले छोटे बडे जल-प्रपात भी वहाँ नहीं हैं। वहाँ अगर कुछ है, तो अेक स्निग्ध शान्ति है।

गडरिये कहते हैं, मार्कण्डी बैजनाथ के पहाडों से आती है। पर अुसका अुद्गम खोजने की मुझे कभी अिच्छा नहीं हुअी। अगर मेरे हाथ में अपने ताल्लुके का नक्शा आ जाय तो मैं अुसमें मार्कण्डी की वह पतली-सी लकीर नहीं खोजूँगा। क्योंकि वैसा करने से वह मेरी सहेली मिटकर, अेक नदीमात्र रह जायगी। अुसके जल में अपने पैर डुबोकर बैठना मुझे बड़ा ही प्रिय लगता है। अुसमें पैर डालते ही अुसका ' खल-खल-खल-खल ' शब्द शुरू हो जाता है। लड़कपन में हम बहुत बातें करते थे। अेक-दूसरे का सहवास ही हमारे आनन्द के लिअे काफी होता। मैं यह समझने की परवाह न करता कि मार्कण्डी क्या कहती है और मैं जो कुछ बोलता उसका अर्थ करने के लिअे वह बैठी न रहती। हम दोनों के लिअे तो अितना ही बस था कि हम अेक-दूसरे को लक्ष्य करके बोल रहे हैं। जब भाअी और बहिन बरसों बाद मिलते हैं, तो हजारों तरह के सवाल पूछते हैं। पर अिन सवालों के पीछे कोअी

जिज्ञासा नहीं होती। यह तो प्रेम को प्रकट करने का अेक निराला-सा ढंग है। प्रश्न क्या था और जवाब क्या मिला, प्रेम-मिलन के समय अिस तरफ ध्यान देने का अवकाश ही किसे रहता है? मैं मार्कण्डी के किनारे-किनारे गाता हुआ घूमता और मार्कण्डी मेरे अुन बाल-गीतों को सुनती रहती।

शंकर की भक्ति के बल से यमराज को पीछे ढकेल देनेवाले मार्कण्डेय ऋषि का, जिन्हें अुनकी आयु के सोलहवें बरस में यमराज लेने आये थे, अुपाख्यान गाते हुअे मुझे अुन दिनों कितना आनन्द होता था!

'साधू सुन्दर शाहणा सुत तया
सोळाच वर्षे मिति
जो कां मूढ कुरूप तो शतवरी
वर्षे असे स्वस्थिती
या देहींत जसा मनात रुचला
तो घ्या तुते दीधला'*

यह वरदान महादेव ने मृकण्ड को दिया। ऋषि ने अपनी धर्मपत्नी से पूछा—'दोनों में से कौन-सा वर पसद करें'? दोनों ने सोचा--अेक सद्गुणी बालक हो, भले वह सोलह बरस तक ही जिये, हमारे कुल का अुद्धार करेगा, और मन में अैसा निश्चय करके पहला ही वर मांग लिया। मार्कण्डेय ज्यों-ज्यों बड़ा होकर फला-फूला, माता-पिता का मुँह पीला पड़ता गया। अन्त में सोलह बरस पूरे हो गये।

तरुण मार्कण्डेय पूजा में बैठा हुआ था। यमराज भैंसे पर सवार होकर पहुँचे। पर शिवलिंग से चिपटे हुअे तरुण साधु को पकड़ने की हिम्मत वह कैसे करते! फिर भी पाश फेंका; अुधर शिवलिंग में से त्रिशूलधारी शंकर बाहर निकले और अिस धृष्टता के लिअे यम को

*मार्कण्डेय ऋषिके जन्मसे पहले उसके माता-पिताने भगवान

बहुत-कुछ भला-बुरा सुनना पड़ा। मृत्युंजय महादेव के दर्शन के बाद मार्कण्डेय को मृत्यु का भय भला क्यों रहता? उसकी वह आयु-धारा अबतक बह रही है।

कॉलेज में जब पढ़ता था, तब परीक्षा के बाद 'भैया-दूज' आती थी। खेतों में तैयार फसल काटने के दिन होते और दो दिन मुझे खेतों में ही बिताने पड़ते। तब मार्कण्डी मुझे मीठे शकरकंद खाने को देती, और अपना अमृत सा पानी पिलाती। जब मैं यह देखने के लिअे जाता कि रात में वह ठंड के मारे काँप तो नहीं रही है, तब वह अपने स्वच्छ शीशे में मुझे मृग-नक्षत्र के दर्शन कराती थी।

आज भी, जब जब घर जाता हूँ, सखी मार्कण्डी से मिले बिना नहीं रहता। पर अब वह मेरे साथ पहले की तरह अठखेलियाँ नहीं करती, जरा-सा मुस्कराकर चुप हो जाती है। मैं उसके सुकुमार चेहरे पर पहले-सा वह लावण्य नहीं देखता; अब तो उसके स्नेह की गहराअी को ही बढ़ा हुआ पाता हूँ।

शंकर से पुत्र मिलने का वरदान माँगा। भगवान ने कहा कि मैं तुम्हें दो में से एक अैसा पुत्र देता हूँ, जो अेक तो साधु, सुन्दर, सयाना और सोलह बरस तक जीनेवाला होगा, और दूसरा मूर्ख, कुरूप और सौ वर्ष तक वैसा ही रहनेवाला। अिन दो में से तुम्हें जो पसन्द हो, लेलो।

[२]

कृष्णा के संस्मरण

अेकादशी का दिन था। बैलगाडी में बैठकर हम माहुली चले। सतारा से माहुली काफी दूर है। रास्ते में दाहिनी तरफ श्रीशाहूजी महाराज के स्वामि-भक्त कुत्ते की समाधि पडती है। हमारी ही तरह और भी बहुत-से लोग माहुली की ओर गाडियाँ दौड़ाते हुअे जा रहे थे। हम लोग नदी के किनारे पहुँच गये। अिसपार से उसपार तक वहाँ लोहे की एक जजीर ऊँचे खभों से बँधी हुई थी और उसीके सहारे अेक नाव भी लटक रही थी जो मेरी बाल-आँखों को बडी भव्यसी मालूम होती थी।

किनारे के ककर कैसे चिकने, काले और ठंडे-ठडे थे! एक को हाथ में लेता तो झट दूसरे पर नजर पडती। वह उससे भी ज्यादा अच्छा लगता। अितने में तीसरे भीगे हुअे ककर पर कत्थई रंग की लकीरें दिखायी पडतीं और दिल उसे ही उठाने को ललच उठता। उस दिन, मुझे पहली ही बार कृष्णा का दर्शन हुआ। पहले-पहल कृष्णा ने ही मुझे पहचाना। मैं तो अितना बडा हुआ ही न था कि मैं उसे पहचान लेता। बालक के माता को पहचानने से पहले ही माता उसे अपना लेती है। नंगे होकर हम खूब नहाये, खेले-कूदे, पानी उछाला और नाव पर चढकर कृष्णा मैया की गोद में खूब छलाँगें मारीं। उस दिन हमने कृष्णा में अितना जल-विहार किया कि कडाके की भूख लग आयी।

जैसे नदी का यह मेरा पहला दर्शन था, वैसे ही नहाने के बाद नमकीन मूगफली के नाश्ते का स्वाद भी मेरे लिअे पहला था। उस यात्रा में मोरपखों की टोपी पहने हुअे 'वासुदेव' भी हमारे पास भीख माँगने आये थे। उस रोज, पहली ही बार हमने उनका मधुर भजन सुना। कृष्णा-मैया के मंदिर में थोडा-सा आराम करने के बाद हम घर लौटे।

सह्याद्रि के जंगलों में, महाबलेश्वर के पास से निकलकर सतारा तक दौड़ लगाने में कृष्णा को बहुत देर नहीं लगती। पर अितने में ही

वेण्या नदी कृष्णा बहिन से मिलने आ जाती है। अिन दोनों के संगम के कारण ही मांहुली को माहात्म्य मिला है। अिस सगम को देखकर पैंतीस बरस तक मेरे हृदय पर अिस दृश्य की कुछ अैसी छाप पड़ी रही, मानों दो लडकियाँ अेक दूसरी के कंधे पर हाथ रखकर खेलने निकली हों।

कृष्णा का कुटुंब-कबीला काफी बडा है। कई छोटी-मोटी आसपास की नदियाँ दौड-दौडकर अिसके गले मिलती हैं। गोदावरी के साथ साथ कृष्णा को भी 'महाराष्ट्र-माता' कह सकते हैं। जिस जमाने में आज की मराठी भाषा बोली नहीं जाती थी, तब का सारा महाराष्ट्र कृष्णा के घेरे के अन्दर था।

(२)

जब नरसोबा की बाडी को जाते समय नाव पर गाड़ी चढाकर हमने कृष्णा को पार किया, तब अुसका दूसरी बार दर्शन हुआ। यहाँ अेक ओर ऊँची कगार, और दूसरी ओर दूर तक फैली हुअी कृष्णा की काली और चिकनी कछार, और अुसमें अुगे हुअे बैंगन, ककडी, तरबूज और खरबूजे के हरे-हरे अमृत खेत। जिसने अेकाध बार भी कृष्णा के किनारे के ये बैंगन खा लिये, वह स्वर्ग में भी उनकी अिच्छा करेगा। दो-दो महीने तक लगातार बैंगन खाने पर भी तृप्ति नहीं होती, अरुचि तो हो ही क्यों?

(३)

मैंने पहली ही बार, साँगली के पास, कृष्णा के तटपर महाराष्ट्र का राजवैभव देखा। सुन्दर-से-सुन्दर आलीशान घाट, चमकते हुअे सुन्दर कलशे भर-भरकर पानी ले जाती हुअी महाराष्ट्र-ललनायें, पानी में कूद-कूदकर किनारे पर खड़े हुअे लोगों को भिगोने की अुमंग दिखलाने वाले जोशीले अखाडेबाज, घण्टों के तालबद्ध स्वर से अपने आने की खबर देनेवाले पहाड जैसे भीमकाय हाथी और अपनी करर्रर् की अेकश्रुति आवाज करते हुअे रस पीने का न्योता देनेवाले अीख के कोल्हू, कृष्णा-माअी का यह तीसरा दर्शन था।

तैरना मुझे अच्छी तरह नहीं आता था। फिर भी घडे को पानी में औंधा डालकर, उसके सहारे बहजाने के लिअे मैं अेकबार नदी में उतर ही पडा; लेकिन अेक जगह कीचड़ में अैसा फँस गया कि अेक पैर निकालता, तो दूसरा और भी अन्दर धँस जाता। और कीचड़ भी कैसा, अेकदम स्याह और मक्खन जैसा मुलायम! मैंने सोचा, जगम न रहकर अब अपने राम उलटे पेड की तरह यहीं स्थावर हो जायँगे। उस दिन की घबराहट तो अब भी नहीं भूला हूँ।

(४)

चिंचली स्टेशन पर पीने के लिअे हमें हमेशा कृष्णा का ही पानी मिलता था। वहाँ हमारी पहचान के अेक स्टेशन मास्टर थे। हम प्यासे हों या न हों, पिताजी हम सबको भक्तिपूर्वक कृष्णा का जल पीने को कहते। कृष्णा महाराष्ट्र की आराध्यदेवता है। उसकी अेक बूंद भी पेट में जाने से हम पवित्र हो जाते हैं। जिसके पेट में कृष्णा के पानी की अेक बूँद भी पहुँच चुकी है, वह अपने महाराष्ट्रीपन को कभी भूल नहीं सकता। श्री समर्थ रामदास और शिवाजी महाराज, शाहूजी और बाजीराव, सरदार घोरपडे और पटवर्धन, नाना फडनवीस और रामशास्त्री प्रभुणे, थोडे में कहें तो महाराष्ट्र का साधुत्व और वीरत्व, महाराष्ट्र की न्यायनिष्ठा और राजनीतिज्ञता, धर्म और सदाचार, देशसेवा और विद्यासेवा, स्वतत्रता और उदारता, ये सब गुण कृष्णा के परिवार में ही परवरिश पाकर फले-फूले हैं। सन्तधाम देहू और आळंदी का पानी कृष्णा में ही मिलता है। भक्तिपुरी पंढरपुर की चन्द्रभागा भीमा बनकर कृष्णा में ही मिलती है। 'गंगा का स्नान और तुंगा का पान' अिस कहावत में जिसका गौरव माना गया है, वह तुगभद्रा कर्णाटक के प्राचीन साम्राज्य के वैभव को याद करती हुअी कृष्णा ही में लीन होती है। सच कहें, तो महाराष्ट्र कर्णाटक और आंध्र, अिन तीनों प्रदेशों की अेकता साधने के लिअे ही कृष्णा बहती है, अिन तीनों प्रान्तों ने कृष्णा का दूध पिया है। कृष्णा में प्रांतीयता की भावना है ही नहीं।

(५)

कालेज के दिन। पूना से बड़ी-बड़ी आशाअें लेकर बड़े भाअी से मिलने घर गया; लेकिन मेरे पहुँचने से पहले ही वे अिस दुनिया को छोड़ चुके थे। मेरी किस्मत में कृष्णा के पवित्र जल में अुनके फूल (हड्डियां) सिराना ही बदा था। बेलगाँव से मैं कूडची गया। शाम का वक्त था। रेल के पुल के नीचे कृष्णा की पूजा की। बड़े भाअी के फूल कृष्णा को अर्पण किये। नहाया और पलथी मारकर जीवन-मरण के अूपर विचार करने लगा। कृष्णा के पानी में कितने महाराष्ट्र वीरों और महाराष्ट्र के शत्रुओं का खून मिला होगा! चौमासे की मस्ती में अल्हड़ कृष्णा ने कितने किसानों और अुनके जानवरों को जल समाधि दे दी होगी! मगर कृष्णा को अिससे क्या? मदोन्मत्त हाथी अिसके जलमें विहार करें और विरक्त साधु अिसके किनारे तपस्या करें, कृष्णा के लिअे दोनों सामान हैं। मेरे भाअी की हड्डियों और कंकर बनी हुअी पहाड़ की हड्डियों के बीच कृष्णा के मन में क्या फर्क है? माहुली में अपने कंधे पर मुझे खड़ाकर पानी में कूदने के लिअे मुझमें जोश भरनेवाले बड़े भाअी की अस्थियाँ मुझीको अपने हाथों कृष्णा के जल में सिरानी पड़ीं। जीवन की यह कैसी अगम्य गति है, कैसी विचित्र लीला है!!

(६)

कृष्णा के गर्भ में मेरा अेक दूसरा भाअी भी सोया हुआ है! ब्रह्मचारी अनन्त बुवा मढेरकर हृदय की भावना से मेरे सगे छोटे भाअी थे और देश-सेवा के व्रत में मेरे बड़े भाअी के समान पूज्य। अुन्होंने स्वदेशी, राष्ट्रीय-शिक्षा और गो-सेवा का काम करते-करते शरीर छोड़ा। मेरे साथ अुन्होंने गंगोत्री और अमरनाथ की यात्रा की थी. मगर कृष्णा के किनारे आकर ही वे अमर हुअे। भक्ति के आवेश में वे अपनी सारी सुध-बुध भूल जाते, और चलते-चलते ठोकर खा जाते. [illegible]

की यात्रा में मुझे कअी बार अनुभव हुआ था। मैं बार-बार अुन्हें टोकता भी; पर वे अिसका जरा भी खयाल न करते। वे तो श्री समर्थ रामदास की प्रासादिक वाणी की धुन में ही मस्त रहते थे। कृष्णा को भी अिन्हें टोकने की सूझी होगी। बेचारे अनंत भाअी मंदिर की प्रदक्षिणा करते-करते अूपर से कृष्णा के दह में गिर पडे और परलोक सिधार गये। जिस वक्त वाअी के पथरीले घाट पर से बहती हुअी गंगा को स्मरण करता हूँ और हर चौमासे में कृष्णा में सर डुबोकर स्नान करनेवाले देवमंदिर के शिखरों का दर्शन करता हूँ, तब कृष्णा के पास मेरा भी अेक भाअी हमेशा के लिअे पहुँच गया है, अिसकी याद आये बिना नहीं रहती। अुस भाई की तपोनिष्ठ, किन्तु प्रेम स्निग्ध मूर्ति का दर्शन हुअे बिना नहीं रहता।

(७)

सन् १९२१ का वह साल! हिन्दुस्तान ने अेक ही बरस में संपूर्ण स्वराज्य ले-लेने का बीड़ा अुठा लिया है। हिन्दू-मुसलमान अेक हो गये हैं। तैंतीस करोड देवताओं के समान भारतवासी भी करोड़ों की संख्या में विचार करने लगे हैं। स्वराज्य-ऋषि लोकमान्य तिलक की स्मृति हमेशा ताजा रखने के लिअे 'तिलक-स्वराज्य फंड' में अेक करोड रुपया अिकठ्ठा करना है। राष्ट्रीय महासभा के झंडे के नीचे काम करने-वाले सदस्य भी एक करोड बनाने हैं। और श्रीकृष्ण के सुदर्शन-चक्र के समान, द्रौपदी के पट-वर्धन चर्खे भी इस धर्मभूमि में उतने ही चलवा देने हैं। भारत-माता के पुत्र अिस काम के लिअे बेजवाडे में अिकट्ठे हुअे हैं। श्री अब्बास साहब, श्री पुणतांबेकर, गिटवानीजी और मैं, हम सब अेक साथ बेजवाडे पहुँच गये हैं। अैसे मंगलमय अवसर पर श्रीकृष्णाम्बिका का विराट् दर्शन करने का सौभाग्य मिला। जिस कृष्णा के किनारे वाअी में बैठकर संध्यावंदन किया था और न्यायनिष्ठ राम-शास्त्री और राजकाज-पटु नाना फड़नवीस की बातें की थीं, वही नन्ही

सी कृष्णा को यहाँ अितनी बडी होते देखकर पहले तो विश्वास ही न हुआ, कहाँ माहुली की वह छोटी-सी लोहे की जजीर, और कहाँ यूरोप-अमेरिका को जोड़नेवाले केबुल जैसे यहाँ के रस्से! हज़ारों-लाखों लोग यहाँ नहाने आते हैं। स्थूलकाय आँध्र-भाअियों में आज भारतवर्ष के तमाम भाअी मिल गये हैं। जहाँ-तहाँ राष्ट्रीय हिन्दी का विमल वाणी-प्रवाह सुनाअी पड रहा है। जिस तरह कृष्णा से वेण्या, वारणा, कोयना, भीमा और तुगभद्रा आकर मिलती हैं, अुसी तरह गाँव-गाँव के लोग भी ठठ्ठ-के-ठठ्ठ बेजवाडे में अिकट्ठे हुअे हैं। अैसे समय में नित्य कृष्णा में स्नान करने का हमें लाभ मिलता। जिस कृष्णा ने जन्म-काल का दूध दिया, अुसी कृष्णा ने स्वराज्याकाक्षी भारत-राष्ट्र का गौरवशाली दर्शन कराया। जय कृष्णे! तेरी जय हो, हिन्दुस्तान अेक हो!! स्वतत्र हो!!!

---

[३]

गंगामैया

गंगा कुछ भी न करती, केवल देवव्रत भीष्म को ही जन्म देती, तो भी आज वह आर्य-जाति की माता ही कहलाती। पितामह भीष्म की वज्र-जैसी टेक, अुनकी निःस्पृहता, अुनका ब्रह्मचर्य और तत्त्वज्ञान सदा के लिअे आर्य-जाति का अेक आदरणीय आदर्श बन गया है। हम गंगा को अैसे महा-पुरुष की माता के रूप में ही पहचानते हैं।

नदी को अगर कोअी अुपमा शोभती है, तो वह माता की ही। नदी के तीर पर रहने से अकाल का डर तो रहता ही नहीं। जब मेघराज हमें धोखा दे देते हैं, तब नदी माता ही हमारी फसल पकाती है। नदी का तट शुद्ध और शीतल हवा का होता है। अुसके किनारे-किनारे घूमने-

फिरने जायँ तो प्रकृति की मातृ-वत्सलता के अखण्ड प्रवाह का दर्शन होता है। नदी बडी हो, और उसका बहाव धीर-गंभीर हो, तब तो अुसके तटपर रहनेवालों की शान-शौकत और खुशहाली उस नदी पर ही निर्भर रहती है। सचमुच नदी जन-समाज की माता है। जब हम किसी नदी के किनारे पर आबाद शहर की गलियों में घूम रहे हों और अेकाध कोने से कहीं नदी की झलक देखने को मिल जाय, अुस समय हमें कितना आनन्द होता है! कहाँ शहर का गन्दा वातावरण और कहाँ नदी का आनंददायी दर्शन! अुसी क्षण दोनो का अन्तर हमें मालूम हो जाता है। नदी ईश्वर नहीं है; पर ईश्वर का स्मरण करानेवाली देवी जरूर है। अगर गुरु को नमन करना अुचित है, तो नदी की भी वन्दना करना न्याय्य है।

यह तो हुअी अेक सामान्य नदी की बात। गगा-मैया तो आर्य-जाति की माता है। आर्यों के बड़े-बड़े साम्राज्य अिसी के तटपर स्थापित हुअे हैं। कुरु-पाचाल देश का अग-बग आदि देशों के साथ गगा ने ही गठबंधन किया। आज भी हिन्दुस्तान की अधिकाश आबादी गगा के ही तट पर है।

हम जब गगाजी का दर्शन करते हैं, तब हरे-हरे लहलहाते खेत ही हमारे ध्यान में नहीं आते; माल-असबाब से लदी हुअी किश्तियाँ ही केवल नजर नहीं आतीं; किन्तु अुनके साथ व्यास-वाल्मीकि के अमर काव्य, बुद्ध-महावीर के विहार, अशोक-समुद्रगुप्त या हर्ष सरीखे बडे-बडे सम्राटों के पराक्रम और तुलसी और कबीर जैसे सत-महात्माओं की साखियाँ और भजन, अिन सबका भी स्मरण हो आता है। गगा का दर्शन तो शैत्य-पावनत्व का प्रत्यक्ष दर्शन है।

लेकिन गगा का दर्शन कुछ अेक ही तरह का नहीं है। गगोत्री के पास वर्फ से ढके हुए प्रदेशों में अिसका क्रीडासक्त कन्यारूप, उत्तर काशी की ओर चीड़-देवदार के काव्यमय प्रदेश में मुग्धारूप, देवप्रयाग के

पहाड़ी और सँकरे प्रदेश में चमकीली अलकनदा के साथ अिसकी अठखेलियाँ, लक्ष्मण झूले की विकराल दंष्ट्रा में से छूटने के बाद हरद्वार के समीप कअी धाराओं में विभक्त होकर अिसका स्वच्छद विहार, कानपुर से सटकर जाता हुआ अिसका अितिहास-प्रसिद्ध प्रवाह तीर्थराज प्रयाग के विशाल पाट के अूपर अिसका यमुना के साथ लोक-पावन त्रिवेणी-सगम—हरेक की शोभा कुछ निराली ही है। अेक दृश्य को देख-कर दूसरे की कल्पना ही नहीं हो सकती। हरेक का सौन्दर्य जुदा, हरेक का भाव जुदा, हरेक का वातावरण जुदा और हरेक का माहात्म्य भी जुदा है।

प्रयाग से गंगा कुछ निराला ही रूप धारण कर लेती है। गगोत्री से लेकर प्रयाग तक गगा उत्तरोत्तर बढती हुअी भी अेकरूप मानी जाती है। किंतु प्रयाग के पास अिसमें यमुना आकर मिलती है। यमुना का शरीरगठन तो पहले से ही दोहरा है। वह खेलती है, कूदती है; पर क्रीडासक्त नहीं दीखती। और जब गगा शकुतला जैसी तपस्वी-कन्या दीखती है, तब काली यमुना द्रौपदी जैसी मानिनी राजकन्या दीख पडती है। जब हम शर्मिष्ठा और देवयानी की कथा सुनते हैं अुस समय प्रयाग के समीप गगा और यमुना का बडी कठिनाअी से मिलता हुआ शुक्ल-कृष्ण प्रवाह याद आता है।

भारतवर्ष में अनगिनती नदियाँ हैं, और अुनके सगम भी अनेक हैं। हमारे पूर्वजों ने अिन सभी सगमों में गगा-यमुना का यह प्रेम-सम्मिलन सबसे ज्यादा पसद किया, और अिसीलिअे उसका 'प्रयागराज' जैसा गौरवपूर्ण नाम रक्खा। भारत में मुसलमानों के आने के बाद जिस प्रकार अुसके अितिहास का रूप बदला, अुसी प्रकार दिल्ली, आगरा और मथुरा-वृन्दावन के समीप से आते हुअे यमुना के प्रवाह के कारण गगा का अपना रूप भी बिलकुल बदल गया है।

प्रयाग के बाद गंगा अेक कुलवधू की तरह गंभीर और सौभाग्यवती दीख पड़ती है। अिसके बाद गंगा में बड़ी-बड़ी नदियाँ मिलती जाती हैं। यमुना का जल मथुरा-वृंदावन से श्रीकृष्ण के संस्मरण अर्पण करता है। अयोध्या में होकर आनेवाली सरयू आदर्श नरपति रामचन्द्र के प्रतापी, किन्तु करुण जीवन की स्मृतियाँ लाती है। दक्षिण की ओर से आनेवाली चंबल-नदी राजा रंतिदेव के यज्ञ-याग की बातें सुनाती है, जब कि महान् कोलाहल करता हुआ शोणभद्र-नद गज और ग्राह के भीषण युद्ध की झाँकी कराता है। अिस भाँति हृष्ट-पुष्ट बनी हुई गंगा पाटलिपुत्र (पटना) के पास मगध-साम्राज्य के समान विस्तीर्ण हो जाती है। फिर भी गंडकी अपना अमूल्य कर-भार लाते हुअे हिचकिचायी नहीं। जनक और अशोक की, बुद्ध और महावीर की प्राचीन भूमि से निकलकर आगे बढ़ती हुअी गंगा मानों विचार में पड़ जाती है कि अब कहाँ जाना चाहिये। जब अितनी प्रचण्ड जलराशि अपने अमोघ वेग से पूरब की तरफ बह रही हो, तब अुसे दक्षिण की ओर मोड़ देना क्या कोअी सरल बात है? फिर भी वह अुस ओर मुड़ जाती है। जिस तरह दो सम्राट अथवा दो जगद्गुरु अेकाअेक अेक-दूसरे से नहीं मिलते, अुसी तरह गंगा और ब्रह्मपुत्रा का हाल है। ब्रह्मपुत्रा हिमालय के अुस ओर का जल समेटकर आसाम में से होती हुअी पश्चिम की तरफ आती है और गंगा अिस ओर से पूरब की ओर जाती है। दोनों का मिलाप आमने-सामने कैसे हो सकता है? कौन किसे पहिले झुके? कौन किसे पहले रास्ता दे? अन्त में दोनों ने निश्चय किया कि दोनों को दाक्षिण्य—अेक दूसरे को प्रसन्न करने की अुदारता—का विचार करके सरित्पति—सागर—के दर्शन के लिये जाना चाहिअे और भक्ति-नम्र होकर जाते-जाते, जहाँ भी संभव हो वहाँ, मार्ग में अेक दूसरे से मिल लेना चाहिअे।

अिस प्रकार गोलंदो के पास जब गगा और ब्रह्मपुत्रा का विशाल जल आकर मिलता है, तब यह शका होने लगती है कि क्या समुद्र अिससे कोअी भिन्न ही तरह का होता होगा ? जिस प्रकार विजय पाने के बाद खंडी हुअी सेना अव्यवस्थित हो जाती है और विजयी वीर जहाँ तहाँ घूमते-फिरते हैं, अुसी तरह सगम के बाद अिन नदियों की भी वही दशा होती है। ये अनेक मुखों द्वारा सागर में जाकर मिल जाती हैं। हरेक प्रवाह का जुदा जुदा नाम है। और कअी प्रवाहों के अेक से भी अधिक नाम हैं। गगा और ब्रह्मपुत्रा अेक होकर पद्मा का नाम धारण करती हैं। यही पद्मा आगे जाकर मेघना के नाम से पुकारी जाती है।

यह अनेकमुखी गगा कहाँ जा रही है ? सुन्दरबन् में बेंत के झुंड अुगाने के लिअे या सगरपुत्रों की वासना को तृप्त कर, अुनका अुद्धार करने के लिअे ? आज जाकर आप देखें तो अुस प्राचीन काव्य की कोअी भी बात यहा रही नहीं। जहाँ देखो वहाँ सन की बोरियाँ बनानेवाली मिलें, और अिसी तरह के दूसरे बदसूरत कल-कारखाने खडे हुअे हैं। जहाँ से हिन्दुस्तानी कारीगरी की असख्य वस्तुअें हिन्दुस्तान के जहाजों में लद-लदकर लका और जावाद्वीप तक जाती थीं, वहीं से अब विलायती और जापानी आगबोटें विदेशी कारखानों में बने हुअे कूडे-कचरे जैसे माल से हिन्दुस्तान के बाजारों को पाट देने के लिअे आती हुअी दिखायी देती हैं। गगा-मैया पहले ही की तरह हमें समृद्धि प्रदान करती है, लेकिन हमारे निर्बल हाथ अुस समृद्धि को सँभाल नहीं सकते हैं! गगा-मैया! यह दु:खद दृश्य देखना तेरे भाग्य में कब तक बदा है ?

[४]

यमुना रानी

हिमालय तो सचमुच भव्यता का भण्डार है। जहाँ-तहाँ अपनी भव्यता बिखेरकर भव्यता की भव्यता को कम करते रहना ही उसका व्यवसाय है। फिर भी अिस हिमालय में अेक अैसी भी जगह है, जिसकी ऊर्ज-स्विता हिमालय-वासियों का ध्यान अपनी ओर खींचती रहती है। यमराज की बहिन का यह अुद्गम-स्थान है।

अँचाअी से बर्फ पिघल-पिघलकर अेक बड़ा जल-प्रपात-सा गिरता है! आसपास गगन-चुम्बित ही नहीं, बल्कि गगन-भेदी-पुराने बडे बडे वृक्ष आडे गिरकर गल जाते हैं। ऊँचे-ऊँचे पहाड यमदूतों की तरह रखवाली करने के लिअे खडे हैं। घडीभर में पानी जमकर बर्फ बन जाता है और थोडी ही देर में पिघलकर असका बर्फ जैसा ठण्डा पानी बहने लगता है। अैसे स्थान में, जमीन के अन्दर से, अेक अजब ढग से, अुबलता हुआ पानी अुछलता रहता है और जमीन के भीतर से अैसी आवाज़ निकलती रहती है, मानों किसी अेंजिन में से बडे जोर से भाफ निकल रही हो। और अिन झरनों में से सिर से भी अूँची अुडती हुअी गरम पानी की बूँदें अितनी सर्दी में भी आदमी को झुलसा देती हैं! अैसे ही लोकचमत्कारी स्थान में 'असित' नाम के अेक ऋषि-ने यमुना का मूल-स्थान खोज निकाला। अिस स्थान में शुद्ध जल में नहाना तो असम्भव-सा है। ठण्डे पानी में नहाने से तो हमेशा के लिए ठण्डा हो जाना पड़ेगा और अगर गरम जल में नहायें, तो वहीं-के-वहीं आलू की तरह अुबल जायँगे। अिसीलिअे वहाँ ठडे और गरम पानी के चश्मे—शीतोष्ण मिश्रित जल के कुण्ड—तैयार किये हैं। अेक झरने के अूपर अेक गुफा है। अिसमें लकड़ी के पटिये बिछाकर सो सकते हैं, लेकिन रातभर करवट बदलते रहना पडेगा। अूपर की ठड और नीचे की गरमी, दोनों ही असह्य हैं!

दोनों बहिनों में, गगा से यमुना बडी है, प्रौढ है, सयानी और गभीर है। वह कृष्ण-भगिनी द्रौपदी जैसी कृष्णवर्णा और वैसी ही मानिनी भी है। गगा तो मानों बेचारी मुग्धा शकुन्तला ही ठहरी; तो भी देवाधिदेव ने अुसे अगीकार किया और अिसीलिअे यमुना ने अपना बड़प्पन छोडकर गगा को ही अपनी सरपरस्ती सौंप दी। ये दोनों बहिनें

आपस में मिलने के लिअे बडी अुतावली दीख पडती हैं। हिमालय में, अेक जगह पर तो दोनों बहुत ही नजदीक आ जाती हैं, पर ईर्ष्यालु दण्डाल पहाड़ बीच में विघ्नसंतोषी की तरह आड़े आकर अुनका सम्मिलन नहीं होने देता। अेक कवि का-सा दिल रखनेवाले ऋषि रहते तो थे यमुना के तीर पर; मगर रोज नहाते थे गंगाजी में, और फिर भोजन के लिअे वापस अपनी यमुना के ही घर आ जाते थे। जब वह बूढ़े हो गये—और आखिर ऋषि भी बूढ़े हो ही जाते हैं—तो अुनके थके हुअे चरणों पर तरस खाकर गंगा ने अपना प्रतिनिधि अेक छोटा-सा झरना यमुना के तीर ऋषि के आश्रम में भेज दिया। आज भी वहाँ यह नन्हा-सा सफेद झरना उसी बूढ़े ऋषि की याद में बह रहा है।

देहरादून के पास भी हमें यह आशा होती है कि ये दोनों नदियाँ आपस में अेक-दूसरे से मिलेंगी; मगर नहीं, अपनी शीतलता और पवित्रता से अन्तर्वेदी के समूचे प्रदेश को पवित्र करने का अपना फर्ज पूरा करने से पहले, अुन्हें अेक-दूसरे से मिलकर फुरसत की बातें करने की सूझती ही कैसे? जब गंगा अुत्तर काशी, टेहरी, श्रीनगर, हरद्वार, कन्नौज, ब्रह्मावर्त, कानपुर आदि प्राचीन और अितिहास-प्रसिद्ध स्थानों को अपना दूध पिलाती हुअी दौडती हैं; अुसी समय यमुना कुरुक्षेत्र और पानीपत के हत्यारे मैदान को देखती हुअी हिन्दुस्तान की राजधानी के पास पहुँचती है। जमुना के पानी में साम्राज्य की शक्ति होनी ही चाहिअे। अिसके स्मरण-सम्रहालय में पाण्डवों से लेकर मुगल-साम्राज्य तक का, और गदर के जमाने से लेकर स्वामी श्रद्धानन्दजी की हत्या तक का, सारा अितिहास भरा पडा है। दिल्ली में आगरे तक, अैसा मालूम होता है मानो बाबर के खानदान के लोग ही हमारे साथ बातें करना चाहते हैं। दोनों शहरों के किले सल्तनत की रक्षा के लिए

नहीं; बल्कि यमुना की शोभा निहारने के लिअे ही मानों बनाये गये हैं। मुगल-सल्तनत के नगाडे बजने तो बंद हो गये, लेकिन गोकुल-वृंदावन की मोहिनी बाँसुरी तो अब भी बज रही है।

मथुरा-वृन्दावन की शोभा कुछ निराली ही है। अिधर का प्रदेश जितना रमणीय है अुतना ही सम्पन्न है। हरियाने की गायें अपने मीठे और पुष्टिकर दूध के लिअे हिन्दुस्तान भर में मशहूर हैं। यशोदा मैया और ग्वालों के राजा नदबाबा ने स्वय अिस स्थान को पसद किया था, अिस बात को तो मानों यहाँ की भूमि भूल ही नहीं सकती। मथुरा-वृदावन— बालकृष्ण की क्रीड़ास्थली, वीर श्रीकृष्ण की विक्रमभूमि! द्वारकावास का प्रसग छोड दिया जाय, तो श्रीकृष्ण के जीवन के साथ अधिक-से-अधिक सहयोग कालिन्दी रानी ने ही किया है। जिस यमुना ने कालिय-मर्दन देखा, अुसी यमुना ने कंस का शिरच्छेद होते देखा। जिस यमुना ने हस्तिनापुर के दरबार में श्रीकृष्ण की दूतवाणी सुनी, अुसीने कुरुक्षेत्र में रण-कुशल श्रीकृष्ण की योगमूर्ति चलती-फिरती देखी। जिस जमुना ने वृंदावन की प्रेम-बाँसुरी के मधुर आलाप के साथ अपना कल-कलनाद मिलाया, उसीने भीषण कुरुक्षेत्र में रोमहर्षण गीतावाणी को प्रतिध्वनित किया—दोहराया। यमराज की बहिन का भाईपना तो श्रीकृष्ण को ही सोह सकता है।

जिसने भारत के क्षत्रिय-कुल का कअी बार सहार देखा है, अुस यमुना के लिअे पारिजात के फूल से कोमल ताजमहल का अवसान कितना मर्मभेदी रहा होगा? फिर भी अुसने प्रेम-साम्राट् शाहजहाँ के जमे हुअे आँसुओं को प्रतिबिम्बित करना स्वीकार कर लिया है।

राजा रन्तिदेव के कारण भारतीय काल से प्रख्यात बनी वैदिक-नदी चर्मण्वती से अपना कर लेकर यमुना ज्यों ही आगे बढ़ती है, उससे मध्य-

युग के अितिहास की झाँकी करानेवाली नन्हीं-सी सिन्धु नदी आकर मिलती है।

अब यमुना अुतावली हो अुठती है। वह सोचती है, अितने दिन हो गये और गंगा बहिन के दर्शन नहीं हुअे। अितनी बातें सुनाने को हो गअी हैं कि पेट में समाती नहीं और पूछने के लिअे असंख्य सवाल भी अिकठ्ठे हो गये हैं। कानपुर और कालपी बहुत दूर नहीं हैं। यहाँ गंगा की खबर पाकर और अिस खुशी में अपना मुँह मिश्री से मीठा करके यमुना दौड़ी और तीर्थराज प्रयाग में गंगा के गले से लिपट गयी। कैसा दोनों का प्रेम-अुन्माद है! मिलने पर भी अुन्हें विश्वास नहीं हुआ कि हम मिली हैं। भारत के कोने-कोने से साधु-संत अिस प्रेम-संगम को देखने के लिअे अिकठ्ठे हुअे हैं। पर अिन दोनों बहिनों को अिस बात का कोई भय नहीं। अिस बात की भी अिन्हें परवा नहीं कि आँगन में अक्षय-वट खड़ा है, और बूढ़े अकबर को, जो छावनी डाले पड़ा है, पूछने की फुर्सत ही किसे है? और अशोक की लाट ही लाकर आप वहाँ खड़ी कर दें, तो क्या आप सोचते हैं कि ये बहिनें अुसकी ओर नजर अुठाकर देखेंगी?

प्रेम का प्रवाह अखंड बहता रहता है, और अुसके साथ कवि-सम्राट् कालिदास की सरस्वती भी अखंड बह रही है!

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपंकजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादंबसंसर्गवतीव पंक्तिः।
अन्यत्र कालागरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव॥
क्वचित्प्रभा चांद्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशा॥

क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्मांगरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्यांगि ! विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुनातरंगैः ॥

[हे निर्दोष अंगवाली सीते ! देखो, अिस गंगा के प्रवाह में यमुना की तरंगे धँसकर प्रवाह को खंडित कर रही हैं ! यह कैसा अनूठा दृश्य है ! कहीं अैसा दीखता है, मानों मोतियों की माला में पिरोये हुअे अिन्द्रनीलमणि मोती की आभा को धुँधला कर रहे हों। कहीं अैसा लगता है, मानों सफेद कमल के हार में नीले कमल गूँथ दिये हों। कहीं मानों, मानससरोवर को जाते हुअे श्वेतहंसों के साथ कृष्णवर्ण कादव पक्षी उड रहे हों। कहीं मानों, सफेद चदन से लीपी हुई भूमि पर कालागरु की पत्र-रचना की गई हो। कहीं मानों चन्द्र की प्रभा के साथ छाया में लीन अंधकार की क्रीड़ा हो रही हो, कहीं शरद् ऋतु के मेघ के पीछे से छिद्र में से आकाश की नीलिमा जरा-जरा दिख रही हो, और कहीं अैसा दीखता है, मानों महादेवजी के भस्म-भूषित शरीर पर काले-काले साँपों के आभूषण धारण करा दिये हों।]

कैसा सुन्दर दृश्य है ! अूपर पुष्पक-विमान में मेघश्याम रामचन्द्र और धवलशीला सीता चौदहवर्ष के वियोग के बाद अयोध्या में पहुँचने के लिअे अुतावले हो रहे हैं, और नीचे इन्दीवरश्यामा कालिंदी और सुधा-सलिला जान्हवी अेक-दूसरे का प्रगाढ आलिंगन छोड बिना सागर में अपने नाम-रूप को विसर्जन कर विलीन होने के लिअे दौडी जा रही हैं।

अिस दृश्य को देखकर स्वर्ग से फूलों की वर्षा अवश्य हुई होगी और पृथिवी पर कवियों की प्रतिभा-सृष्टि के फुहारे अुडे होंगे !

[५]

नदी पर नहर

सावन की पूनो, याने जनेअू बदलने का दिन; और ब्राह्मणत्व को भूल जायँ तो यह बहिनों की राखी का दिन है। अिस दिन हम रुडकी पहुँचे। खिलाडी वेणीप्रसाद बात की बात में मेरे साथ हिल गया और कहने लगा—'अजी काकाजी, आज तो आपके ही हाथ से हम जनेअू लेंगे। यहाँ के ब्राह्मण वेदमंत्रों को ठीक ठीक नहीं बोलते। आप महाराष्ट्र हैं। आप ही हमें जनेअू दीजिअेगा'। वेणीप्रसाद के मामा बड़े भक्त थे। अुनके साथ जनेअू के बारे में बातें होने लगीं। अुत्तर-भारत के ब्राह्मण चाहते हैं कि तीनों द्विजवर्ण बराबर जनेअू पहिनें और सन्ध्या वगैरह नित्यकर्म किया करें, मगर अिस ओर लोगों में बडी अनास्था है। जब दक्षिण में ब्राह्मणेतर लोग जनेअू पहनना चाहते हैं, तब महाराष्ट्र के ब्राह्मण "कलौ आद्यन्तयोः स्थितिः" अिस वचन के अनुसार यह बेहूदी जिद पकड बैठते हैं कि बीच के दो वर्ण—क्षत्रिय-वैश्य—हैं ही नहीं। (सौभाग्य से अब यह हालत नहीं रही) जिनको जनेअू पहनने का अधिकार है, अुनमें अुसके पहनने की दिलचस्पी नहीं और जो धींगाधींगी करके भी जनेअू पहनने का अधिकार प्राप्त कर लेना चाहते हैं, अुन्हें अपना द्विजत्व साबित करने में बडी कठिनाअी का सामना करना पडता है। यह चर्चा सुनकर

वेणी को अैसा लगा कि अुसे आज जनेअू मिलनेवाला नहीं हैं। अुसने दलील पेश की, 'कलजुग में क्या नहीं हो सकता ? अगर नदी पर नदी सवार हो सकती है, तो अेक महाराष्ट्र ब्राह्मण भी हमें जनेअू दे सकता है।'

यहाँ से हमारी बातचीत का विषय बदला, और कलजुग के भगीरथों की बहादुरी का नमूना गंगा की नहर के बारे में बातें छिड़ गईं। दोपहर में, हम मनुष्य की निर्माण-कला का यह असाधारण नमूना देखने के लिअे चल दिये। गंगा की नहर रुडकी शहर के पास से निकली है। लड़के अिस नहर में मछलियों की तरह 'लुका छिपी' खेल रहे थे। नहर के किनारे किनारे हम अुस मशहूर पुल तक चले गये। सचमुच वह अेक मनोहर दृश्य था। पुल के नीचे, अेक गरीब ब्राह्मणी की तरह, सोलाना नदी बह रही थी, और अुसके ऊपर गंगा की नहर अपने चौडे पाट को जरा भी सिकोडे बिना पुल पर से हो-कर सरपट भागी जा रही थी। अुस पुल पर पानी का अितना भार था, मानो अभी अुसकी दीवार टूट जायगी और दोनों ओर से हाथी की सूंड की तरह मोटी धारा बहने लगेगी। पुल की दीवार के अूपर खड़े होकर नहर के बहाव की तरफ झाँकने से दिमाग चक्कर खाने लगता है। दुखी मनुष्य के मगज में जिस तरह उद्वेग के नये-नये अुफान उठते हैं, अुसी तरह नहर के पानी में भी अुभाड उठ रहे थे। लेकिन जिस प्रकार ससुराल में आअी हुअी नयी बहू अपने मन की सारी अुमंगों को दबाये रहती है, अुसी तरह गंगा, नदी की यह पराधीन पुत्री भी अपने तमाम अुफानों को दबाये रखती है। पहले-पहल दर्शन करते समय अिसके विस्तार को देखकर यह अैसी मालूम होती है मानो कोअी घमंडिन सेठानी हो। पर बहुत पास से देखें तो अमीरी के नीचे पराधीनता का दुःख अुसके चेहरे पर साफ झलकता दिखाअी पडता है।

निम्नगा सोलाना का क्षीण, मगर स्वतंत्र प्रवाह अूपर से देखने पर बड़ा ही लुभावना लगता है। दिल में सिर्फ अितना ही अखरता है कि नहर के दोनों ओर की दीवारों में परीवाह (पनाले) के रूप में कुछ छेद बनाये गये थे, जिनमें से नहर का थोड़ा-थोड़ा पानी अिस तरह सोलाना में गिरता था, मानो वह अुसपर कोई भारी अहसान कर रहा हो।

पुल से हम नीचे उतर पड़े, और जाकर सोलाना के किनारे बैठ गये। सोलाना अितनी मानिनी न थी कि वह अिस अुपकार को अस्वीकार कर देती; और वह अितनी हीन भी नहीं थी कि वह किसी की कृपा-दृष्टि की आशा लगाये बैठी रहे। हीनता उसमें थी ही नहीं, और मानिनीपन अुसे शोभा न देता था। अुसकी निर्व्याज स्वाभाविकता प्रयत्नपूर्वक कमाये हुअे उदात्त चारित्र्य से भी कहीं ज्यादा खिल अुठी थी!

भगीरथ-विद्या में (अिरिगेशन अिंजीनियरिंग में) पानी के प्रवाह को ले जाने के छः तरीके बतलाये हैं। अिनमें सबसे अजीब और ज्यादा मुश्किल है वह, जिसमें अेक प्रवाह पर से दूसरा प्रवाह ले जाना पड़ता है।

रेल की सड़कें तो अिस प्रकार जाती हुअी हमने बहुत-सी देखी हैं। पर जहाँतक मुझे मालूम है, हिन्दुस्तान में अैसे जल-प्रवाह का यही अेक अुदाहरण है। अगर संस्कृति के प्रवाह की दृष्टि से विचार करें, तो सारा हिन्दुस्तान अिसी तरह से भरा हुआ है। हरेक जाति की संस्कृति अलग और अेक-दूसरे से कअी बार मिलने पर भी अेक-दूसरे से अछूती ही रही है।

[६]

सुवर्ण-देश की माता

अिरावती कहें या अैरावती ? मेरी समझ में, अिस नदी का नाम 'अिरा' नामकी घास पर से अैरावती पड़ा है। अिसके किनारे का पौष्टिक घास चरनेवाले मस्त हाथी को ही अैरावत कहते होंगे या फिर इन्द्र के अैरावत के समान बड़े डील-डौलवाली और मत्त गजेन्द्र-गति से चलनेवाली अिस नदी को देखकर किसी बौद्ध भिक्षु को सूझा होगा कि 'बस, अिसीको हम अैरावती कहें ! '

लेकिन अैतिहासिक कल्पना-तरंगों में कलोल करने का काम तो बैठे-ठाले लोगों का है, मुसाफिर को यह सब नहीं पुसाता।

अगर अैरावती कहीं हिन्दुस्तान में होती, तो संस्कृत के कवियों ने अिसके वर्णन में अैरावती जितना ही लम्बा-चौडा काव्य-प्रवाह बहा दिया होता। ब्रह्म-देश के कवियों ने बहुत-से काव्य रचे भी हों, पर हमें उनका क्या पता ? ब्रह्मी भाषा न तो हमारी जन्मभाषा है, न शास्त्र-भाषा या राजभाषा। अपने पड़ोसी की भाषा सीखने की प्रवृत्ति हममें है ही कहाँ ? कोई अँग्रेज बर्मी भाषा सीखकर बर्मी कविता का अँग्रेजी तरजुमा करके हमें दे-दे तो शायद वह हमें पढने को मिल जाय।

कोअी भी देश अैरावती जैसी नदी पर अभिमान और अेहसान जाहिर कर सकता है। हम ब्रह्म-देश में रंगून से अुत्तर तरफ, मांडले तक ट्रेन में यात्रा कर चुके थे। हमने वहाँ से बहुत पास ही अमरापुरा जाकर, पहली ही बार अैरावती के दर्शन किये। अगर हमें पहले ही से अिस बात का पता लग जाता कि अमरापुरा के नजदीक बुद्धदेव की बडी-बडी मूर्तियाँ हैं तो हम अुनके दर्शन से ही अैरावती की यात्रा शुरू करते।

यहाँ भी नदी का पाट खूब चौड़ा है। आस-पास की धरती समतल

होने से नदी भी गम्भीर दीख पडती है अुसका वहाव धीर और अुदात्त हाथी की चाल जैसा है। अैसी नदी की पीठ पर नाव या स्टीमलाच में बैठकर यात्रा करना जीवन में अेक बड़ी खुशकिस्मती की बात है।

अमरापुरा से मॉडले वापस आकर हम स्टीमलाच में बैठे। समुद्र की यात्रा जुदी, और नदी की जुदी! नदी में बडी-बडी लहरें नहीं होतीं। दोनों तरफ़ का किनारा हमारा बराबर साथ देता जाता है। और अैसा मालूम नहीं होता कि हम 'जीवन' का नाम धारण करनेवाले, पर जान लेनेवाले महाभूत के पजे में अच्छी तरह फॅसे हुअे हैं। शून्य और अनन्त आकाश में पृथ्वी का गोला जैसे अपनी सनातन यात्रा शान्ति से करता चला जाता है, अुसी तरह नदी के प्रवाह में ये किश्तियाँ भी चुपचाप चलती हुअी शाति का अपूर्व आनन्द प्रदान करती हैं। आज भी जब अिस अैरावती की यात्रा का स्मरण करता हूँ, तब चाणोद कर्नाली के पास की द्रौपदी के जैसी नर्मदा की यात्रा, सीता जैसी ताप्ती की यात्रा, सागर-सगम तक की काशीतलवाहिनी भारत माता गगा की यात्रा, मथुरा-वृन्दावन की कृष्णसखी कालिन्दी की यात्रा, काश्मीर के नन्दनवन में पार्वती वितस्ता (झेलम) की यात्रा, और वनश्री के पीहर सदृश गोमातक प्रदेश की जल-यात्रा, सभी अेकसाथ याद आ जाती हैं। अिनमें भी तृप्तिकारक लबी यात्रा तो हमने वितस्ता और अैरावती की ही की है। सिन्धु, गगा, ब्रह्मपुत्रा और नर्मदा से टक्कर लेनेवाली यही एक नदी है। अैरावती का पाट और प्रवाह देखते ही मन में अैसा भाव अुठता है, मानों यह कोई विशाल साम्राज्य के अूपर राज करनेवाली सम्राज्ञी तो नहीं है। यह ठीक है कि आराकान और पेगुयोमा पहाड़ अिसकी रक्षा करते हैं, फिर भी अैरावती के प्रति सम्मान का भाव दिखलाने को वे बडे आदर के साथ दूर ही खडे हैं।

हमारा जहाज चल दिया। जैसे शाम होते ही गाय के बछड़े अपनी माँ के पास दौडे चले आते हैं, अुसी तरह आस पास-के लम्बे-चौड़े प्रदेश के श्रमजीवी किसान अैरावती के किनारे अिकट्ठे होते हैं। हमारा जहाज एक चलता-फिरता बाजार ही था। ज्यों ही कोई छोटा मोटा बन्दरगाह आ जाता, वह अपनी सीटी बजाकर लोगों को न्योता दे देता। लोग अुमडती हुअी चीटियों के दल की तरह दौड़ते हुअे आते और जहाज़ पर तरह-तरह की खाने-पीने की चीज़ों, बेंत के बरतनों, कारीगरी की वस्तुओं, तथा और भी कई दूसरी चीजों का बाजार-सा लग जाता। जहाज के अन्दर भी मुसाफिर व्यापारी लोग अपना-अपना माल लिये बैठे रहते। पक्षियों की चहचहाट की तरह लेन-देन का बाजार गरम हो जाता। जो अिनकी भाषा जानता है, वही अिस जन-कोलाहल से अूब सकता है। हमें क्या? लोग लड़ें-झगड़ें, चीखें-चिल्लायें, हमारे लिअे यह सब अेक-सा था। अैसा लगता मानों यह अेक बडा नाटक खेला जा रहा है। लेन-देन खत्म होते ही जहाज छूटता। हाल ही में बच्चा ब्यानेवाली भैंस की तरह हमारा जहाज झूमता-झामता चला। जहाज के अेक नीच गोरे अधिकारी के साथ हमारी कुछ खटपट हो जाने से अुस दिन की यात्रा का हमारा मजा कुछ किरकिरा-सा हो गया था, लेकिन मन्द-मन्द पवन के झोकों में वह किरकिरापन अुड गया और फिर हम कुदरत की तरह पहले ही जैसे प्रसन्न हो गये।

फिर अेक बन्दरगाह आया। यहाँ पर तिजारत शायद कुछ ज्यादा होती होगी। छोटी-बड़ी अनगिनती किश्तियाँ नदी के किनारे कीचड़ में लोट रहीं थीं। ढोरों की पीठपर जिस तरह मक्खियाँ भिनभिनाती हैं, अुसी तरह गाँव के लड़के अिन नावों पर उछलते-कूदते हुए खेल रहे थे। बर्मी लोग गोदना गुदाने के बड़े शौकीन हैं। अिनके केवड़े जैसे गोरे चमड़े पर लाल और नीले गोदने बड़े ही सुन्दर लगते हैं। महाराष्ट्र के गाँवों में लोगों का

यह विश्वास है कि अिस जनम में शरीर पर ज़ेवरों को गोदने से अगले जनम में सोने के ज़ेवर और ललाट पर टीका, और चॉद गोदने से अखंड सौभाग्य मिलेगा। कुछ अिसी तरह का विश्वास अिधर के लोगों में भी होना चाहिअे। क्योंकि बहुत-से देहाती कमर से घुटनों तक सारे शरीर में रंग-बिरंगी लुंगी—तहमत—गुदाते हैं। अिसलिअे कअी लोग नंगे ही नदी में नहाने के लिअे धस पड़े। तो भी बगैर कपडों के वे नंगे नहीं मालूम होते थे। जहाज जहॉ ज्यादा देर ठहरता, हम किनारे पर अुतर-कर पास के गॉव में घूम आते। बर्मी घरों और मोहल्लों से हमारी ऑखें अच्छी तरह परिचित हो चुकी थीं। गोकि हम अिन लोगों की बोली नहीं समझते थे; फिर भी अिन भोले-भाले देहातियों का जीवन हमारे लिअे परिचित-सा ही हो गया था। राजकाजी और व्यापारी लोगों के राग-द्वेष को अगर हम निकाल फैंकें और धार्मिक या अधार्मिक लोगों की कल्पना-सृष्टि को अेक तरफ रख दें, तो फिर सारी मनुष्य-जाति अेक ही कुटुंब-कबीला है। मेरे ख्याल में दुनिया भर के गॉंव अेक ही से होने चाहिअे।

हमें अिस यात्रा में जगह-जगह स्तूप और मंदिर लगातार मिलते ही जाते थे, मानों नदी के प्रवाह-संगीत के बीच-बीच में ताल बज रहे हैं। अूंची-अूंची टेकरियॉं और पहाड़ों की चोटियां हमेशा ही मनुष्य को प्यारी रही हैं। और जब नील नदी की तरह विशाल अैरावती चारों दिशाओं में अपनी कृपा का अुत्पात मचाती है, तब तो ये अूंचे-अूंचे स्थान ही आश्रय-स्थान बनते हैं। मनुष्य अुसके प्रति अपना अहसान मंदिर बनवाकर जाहिर न करे तो फिर किस तरह करे! प्रकृति ने हमें यही सिखाया है, कि लहलहे हरे पत्तों में पीले-पीले पके हुअे फल अपनी पूरी मस्ती दिखा सकते हैं. अिस पाठ से शायद अुदार लोगों ने वृक्षों के बीच में मंदिर बनवाकर अुनपर आकाश की अनन्तता [illegible]

दर्शन करानेवाली सोने की अुंगलिया अूची अुठा रक्खी है। जो लोग यह मानते हैं कि कुदरत की सुंदरता को अिन्सान बढ़ा नहीं सकता, अुन्हें अेक बार आकर ये अूंचे-अूंचे शिखर जरूर देखने चाहिअे।

दो पहर का वक्त था। अंग्रेजी जाननेवाले अेक बर्मी कालेज के विद्यार्थी के साथ हम बातें कर रहे थे। अितने में अेक शांत आवाज सुनाअी पड़ी। छिंदवीन नदी अपना कर लेकर अैरावती से मिलने आयी थी। दोनों का कैसा प्रेम-मिलन था! समर्थ रामदास और तुकाराम आपस में मिलें हों या भवभूति शतरंज खेलनेवाले कालिदास को अपना 'अुत्तर-रामचरित' सुना रहे हों—कुछ अैसा ही था वह दृश्य!

कल्पना द्वारा तो मैं छिंदवीन के अजनबी प्रदेश में शान-राज्य तक सैर भी कर आया हूँ। वहाँ मुझे हाथ में तीर-कमान या कुल्हाडी लेकर फिरनेवाले बेफिक्र और बे-खौफ कअी जंगली लोग मिले। ज़रा भी शक हो जाने पर हमारी जान ले लेनेवाले, और विश्वास हो जाय तो हमारे लिअे अपने प्राण भी न्योछावर कर देनेवाले अिन प्रकृति के बच्चों का दर्शन हमें तो सभ्यता की कीचड को धो डालनेवाले मंगल-स्नान जैसा लगा। जहाज का पक्षी कितना ही क्यों न अुडे, अन्त में वह जहाज पर ही लौट आता है* अुसी तरह मेरी कल्पना भी जंगल की सैर करके फिर वापस जहाज पर आ गयी; क्योंकि हम पकोकु बंदर पर पहुँच गये थे। पकोकु के पास कीचडवाली नदी में नहाकर और अेक बर्मी सज्जन की मेहमानी ग्रहणकर हम फिर जहाज पर सवार हुअे और मिट्टी के तेल के कुअें देखने के लिअे येनेनजाव तक गये। यह कहा जा सकता है

---

* श्री सूरदास ने ही कहा है'—

जैसे उडि जहाज़ कौ पंछी, फिरि जहाज पै आवै।

कि यहाँ अमेरिकन मजूरों की हुकूमत चलती है। आसपास वन-शोभा नहीं के बराबर है। यहाँ अेक ओर तो अिन घासलेटी कुओं का आधुनिक क्षेत्र, और दूसरी ओर टेकरी पर छोटे-से प्राचीन बौद्ध मदिर का तीर्थक्षेत्र, दोनों को देखकर मन में कअी विचार अुठे। मदिर की कारीगरी में हाथी के मुँहवाला अेक पक्षी लकडी के खमे में खुदा हुआ था। अिस तरह और भी कअी मिलावटवाली चीजें यहाँ देखने में आयीं। पास ही के मठ में कुछ बौद्ध साधु मधुर आलाप के साथ सायकाल की प्रार्थना कर रहे थे। बिना किसी तरह के पक्षपात के अैरावती घासलेट के कुओं के पपों का कोलाहल अपने कलेजे पर अिस तरह बरदाश्त करती है और "अनिच्चा वत सखारा उप्पाद व्ययधम्मिणो" का शात और चिरतन सदेश भी धारण करती है। अमेरिका की ताकत का भले ही जोड न हो, फिर भी वह भू-खड अेक बच्चा ही कहा जायगा न? अुसे जीवन का रहस्य अितनी जल्दी कैसे हाथ लग सकता है? अुसे तो नदी के किनारे तीन तीन हजार फीट गहरे कुअें खोदकर मिट्टी का तेल निकालने की ही बात सूझ सकती है। दुनिया की तमाम चीजें पैदा होती हैं और मिट जाती हैं। सभी नाशवान और व्यर्थ हैं; असार है सार तो सिर्फ अिनमें से बचकर निर्वाण (मोक्ष) पाने में है—अिस बात को कौन अमेरिकन मान सकता है? पर अैरावती तो अुत्साह के कारण कभी ज्ञान से अिन्कार नहीं करेगी, और न ज्ञान के भार से अपने अुत्साह को खो बैठेगी। अुसे तो महासागर में लीन होना है और अपने अिस विलीनता के आनन्द को सदा अखड भी बनाये रखना है।

येननजाव से हम प्रोम तक गये, और वहा अैरावती से विदा हुअे। यहा से आगे चलकर यह महानदी कअी धाराओं में समुद्र से मिलती है। सचमुच अैरावती तो सुवर्ण-देश की माता है!

[७]

दक्षिण-गंगा गोदावरी

(१)

हम बचपन में सबेरे उठकर, मराठी की प्रभातियां गाते थे—जिनकी ये चार सतरें तो आज भी याद हैं --

उठोनियाँ प्रातःकाळीं । वदनी वदा चंद्रमौली ।
श्री बिंदुमाधवा जवळीं । स्नान करा गंगेचे । स्नान करा गोदेचे ॥

× × × ×

कृष्णा वेण्या तुंगभद्रा । सरयू कालिंदी नर्मदा ।
भीमा भामा मुख्य गोदा । करा स्नान गंगेचे ॥

गगा और गोदावरी एक ही हैं, दोनों के माहात्म्य में जरा भी फर्क नहीं है, अगर कुछ हो भी, तो इतना ही कि कलिकाल के पाप के कारण गगा का माहात्म्य चाहे किसी कदर कम हो भी जाय, मगर गोदावरी का माहात्म्य किसी काल में कम होनेवाला नहीं है। श्री रामचंद्र के अत्यत सुख के दिन अिसी गोदावरी के तीर पर बीते, और जीवन का दारुण आघात भी अुन्हें यहीं सहन करना पडा। गोदावरी सचमुच दक्षिण की गंगा है।

कृष्णा और गोदावरी, अिन दो नदियों ने दो महान् प्रजाओं का पालन-पोषण किया है। अगर यह कहें कि महाराष्ट्र का स्वराज्य और आंध्र का साम्राज्य, अिन्हीं दो नदियों का चिरऋणी है तो अिसमें भी अतिशयोक्ति नहीं। साम्राज्य बने और बिगडे, महान राष्ट्र चढे और गिरे; लेकिन अिस अैतिहासिक भूमि में ये दो नदिया अखड रूप से बहती ही जा रही हैं। ये नदिया भूतकाल के गौरवशाली अितिहास

की जितनी साक्षी है; अुतनी ही भविष्य काल की बड़ी बड़ी आशाओं की प्रेरक भी है। अिनमें भी गोदावरी का माहात्म्य तो कुछ अनोखा ही है। वह जितनी जलसम्पन्न है, अुतनी ही अितिहास-समृद्ध भी है। जिस तरह श्रीकृष्ण के जीवन में सर्वत्र विविधता-ही-विविधता और अकमात् अुत्कर्ष भरा हुआ है अुसी तरह गोदावरी के अतिदीर्घ प्रवाह के तीर पर भी सृष्टि-सौन्दर्य अपनी विविधता और विपुलता को लिये चारों ओर बिखरा पड़ा है। सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा की अेक कल्पना में से जिस तरह सृष्टि का विस्तार होता है, वाल्मीकि की कारुण्यपूर्ण वेदना से जिस प्रकार रामायणी सृष्टि का विस्तार हुआ, अुसी तरह त्र्यम्बक पहाड़ के कगार से टपकती हुई गोदावरी में से ही आगे जाकर राजमहेन्द्री की विशाल जल-राशि बनी है। जिस तरह सिन्धु और ब्रह्मपुत्रा को हिमालय का आलिंगन करने की सूझी, जिस प्रकार नर्मदा और ताप्ती को विंध्या-सतपुड़ा को पिघलाने की सूझी, अुसी प्रकार गोदावरी और कृष्णा को दक्षिण का अूँचा प्रदेश तर करके, अुसे धन-धान्य से सम्पन्न करने की सूझी। ऐसा जान पड़ता है, मानो इन दोनों नदियों को सह्याद्रि पर्वत का पश्चिम की ओर ढल पड़ना कुछ पक्षपातपूर्ण-सा मालूम हुआ, और अिसीलिअे मानों ये अुसे पूर्व की ओर खींचने की लगातार कोशिश कर रही हैं।

इन दोनों नदियों के अुद्गम-स्थान पश्चिमी समुद्र से ५०—७५ मील से अधिक दूर नहीं हैं; फिर भी दोनों ८००—९०० मील की लम्बी यात्रा करके अपना जल-भार या कर-भार पूर्व-समुद्र को ही अर्पण करती हैं और यह कर कोई मामूली नहीं है, अुसके अंदर सारा महाराष्ट्र देश आ जाता है, हैदराबाद और मैसौर के राज्य भी अुसी में समा जाते हैं, और सारा का-सारा आंध्र-देश भी। गोदावरी के सामने मिश्र-देश की संस्कृति की माता नील नदी कोई चीज ही नहीं!

त्र्यंबक के सामने पहाड़ की अेक बडी दीवार में से गोदावरी निकलती है । त्र्यंबक गॉव से जो चढाअी शुरू होती है, वह गोदा मैया की मूर्ति के चरणों तक चली ही जाती है। वहॉ से ऊपर जाने के लिअे बायीं ओर विकट सीढ़ियॉ बनी हुअी हैं; और अिस तरह मनुष्य ब्रह्मगिरि तक पहुॅच सकता हैं । पर वह दुनिया ही कुछ जुदी है। गोदावरी के अुद्गम-स्थान से जो दृश्य दीख पड़ता है, वह हमारे वातावरण के लिअे बहुत अनुकूल है । महाराष्ट्र के तपस्वियों और राजाओं ने समान भाव से अिस जगह अपनी भक्ति-भावना की अंजलि चढाअी है । कृष्णा के किनारे वाअी, सतारा और गोदावरी के किनारे नासिक और पैठण, महाराष्ट्र की सच्ची राजधानिया हैं ।

किन्तु गोदावरी का सच्चा अितिहास तो परमसाहिष्णु रामचन्द्र और दु खमूर्ति सीता माता के वृत्तात से ही शुरू होता है । राजपाट छोडते समय राम को दु ख नहीं हुआ, पर गोदावरी के तीर सीता और लक्ष्मण के साथ मनाये हुअे आनन्द का अन्त होने पर राम का हृदय तो एकदम सौ-सौ टुकड़े हो गया । भेड़ियों और बाघों के अभाव में जो हिरण निर्भय हो गये थे, आर्य रामचन्द्र की दु खोन्मत्त आँखे देखकर वे भी दूर भाग गये होंगे और सीता की खोज में देवर लक्ष्मण की दहाड़ें सुनकर तो बडे-बडे हाथी भी डर से कॉंप अुठे होंगे, और गोदावरी का तरल जल पशु-पक्षियों के दु.खाश्रुओं से कसैला हो गया होगा । हिमालय में जैसे पार्वती थीं, वैसे ही जनस्थान में सीता सारे विश्व की स्वामिनी थीं । अुनके चले जाने पर अगर प्रलयकाल का सा सार्वभौम दु ख फैला हो तो अिसमें आश्चर्य ही क्या ?

राम और सीता तो फिर भी मिले, पर जनस्थान का वियोग तो

हमेशा के लिअे बना ही रहा। आज भी नासिक-पचवटी मे घूम-घूमकर देखे, चौमासे में जाओ या गरमी में, अैसा लगता है मानों सारी पचवटी जटायु की तरह शोक से कातर होकर 'हा सीता ' हा सीता ! ' पुकार रही है । महाराष्ट्र के साधु-सतों ने अगर अपनी मगलमयी-वाणी यहाँ न फैलायी होती तो जनस्थान एक भयकर और अूजड प्रदेश हो गया होता । गरमी का ताप ढाँकने के लिअे जैसे हरी-हरी सृष्टि चारों ओर फैल जाती है, अुसी तरह साधु-सत भी जीवन की विषमता को भुला देने के लिए सर्वत्र विचरते हैं; यह कैसा सौभाग्य है ! जब-जब नासिक-त्र्यबक की ओर जाता हूँ, वनवास के लिअे अिसी जगह को पसद करनेवाले राम-लक्ष्मण की आँखों से सारा प्रदेश देखने को दिल ललचाता है; पर हर बार कपित तृणों में भी सीता माता की कातर देह-यष्टि ही दीख पडती है । रामभक्त समर्थ रामदास जब यहाँ रहते थे तब अुनके हृदय में कैसी उमगें अुठती होंगी ! श्री समर्थ ने गोदावरी के किनारे गोबर के हनुमान की स्थापना भला किस मतलब से की थी ? क्या अिसलिअे कि अगर पचवटी में हनुमान होते तो वे सीता-माता का हरण कभी न होने देते । लक्ष्मण को कठोर वचनो से घायल करके सीता ने अपने अूपर अेक महान् सकट ओढ लिया था । हनुमान को वे अैसी कोअी चुभती बात न कह पातीं; पर जन-स्थान और किष्किंधा के बीच मे बडा अंतर है, और गोदावरी कुछ तुगभद्रा थोडे ही है ?

(२)

राम-कथा का करुणरस त्रेता-युग से आजतक बहता ही आ रहा है। अुसे कौन कम कर सकता है ? अिसलिए आअिये, हम हरिजनों के भैंसे के मुँह से वेदमत्र का पाठ करवा देनेवाले श्री ज्ञानेश्वर महाराज

से मिलने के लिअे पंठण तरफ चलें । जिस तरह गोदावरी दक्षिण की गगा है, अुसी तरह अुसके किनारे पर बसी हुअी प्रतिष्ठान नगरी दक्षिण की काशी मानी जाती थी । यहॉ के दशग्रन्थी ब्राह्मणों द्वारा दी हुअी व्यवस्था चारों वर्णो को माननी पड़ती थी। बडे-बडे सम्राटो के ताम्र-पत्रो से भी बढकर यहॉ के ब्राह्मणों के व्यवस्था-पत्रो को मान दिया जाता था। यह तो ज्ञानेश्वर महाराज की ही सामर्थ्य थी कि अैसे स्थान मे भी अुन्होंने शास्त्र-धर्म को हराकर हृदय-धर्म को जिताया। संन्यासी शकराचार्य के ऊपर किये गये अत्याचार की स्मृति को कायम बनाये रखने के लिअे जिस तरह अुस देश के राजा ने नबूद्री ब्राह्मणों पर कुछ कडे रिवाज लाद दिये थे, अुसी तरह अगर कोअी राजा सन्यासी-पुत्र ज्ञानेश्वर का शिष्य होता तो शायद वह भी महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों को सख्त सजा देता और कहता कि तुम लोगों को जनेअू पहनने का आयदा कोअी अधिकार नहीं है।

जैसे हाथ की अुगलियों का पखा बन जाता है, वैसे ही बडी-बडी नदियों में आकर मिली हुअी और अपने आपको मिटा देने की क्रिया का कठिन योग साधनेवाली छोटी-छोटी नदियों का भी पखा-सा बन जाता है। सह्याद्रि और अंजना के पहाडों की कगारों पर जितना भी पानी बरसता है, अुस सबको खींच-खींचकर मैदान में बहा देने का काम ये नदियॉ करती हैं । धारणा और कादवा, प्रवरा और मुला को छोड़ देने पर भी मध्य भारत से दूर-दूर का पानी लाती हुई वर्धा और वैनगगा को कैसे भूल जायॅ? जिसने दो मिलकर अेक बनी हुई यहाँ की अेक नदी का 'प्राणहिता' नाम रक्खा, अुसके मन में कितनी कृतज्ञता, कितना काव्य और कितना आनन्द भरा होगा ! और ठेठ अीशान दिशा के कोने से पूर्व-घाट का पानी ला देनेवाली अष्टवक्रा, अिद्रावती और

अुसकी सखी श्रमणी तपस्विनी शबरी को प्रणाम किये बिना कैसे आगे बढ़ सकती है ?

गोदावरी की सारी कला तो भद्राचलम् से ही देखी जा सकती है। जिसका पाट अेक से दो मील तक चौडा है, अैसी गोदावरी अूँचे-अूँचे पहाड़ों के बीच में से होकर अपना रास्ता साफ करती हुअी जब सिर्फ दो-सौ गज की खाअी मे होकर निकलती होगी तब भला वह क्या सोचती होगी ? अपनी तमाम ताक़त और तरकीब खर्च करके बडे ही नाज़ुक मौके में से निकलकर राष्ट्र को आगे ले चलनेवाले किसी राष्ट्रपुरुष की तरह दुनिया को आश्चर्य में डालनेवाली गर्जना के साथ वह यहाँ से निकलती है। घोडा-बाढ़ और हाथी-बाढ की बातें तो हम सुनते रहे हैं; लेकिन अेकदम पचास फुट जितनी अूँची बाढ क्या कभी कल्पना में भी आ सकती है ? मगर जो कल्पना में सभव नहीं है, वह गोदावरी के प्रवाह में सभव है। तग गली से होकर निकलते हुअे पानी को अपनी सतह सपाट बनाये रखना मुश्किल हो जाता है। अर्घ्य देते समय जैसे अंजलि में छोटे मुह की नाली सी बन जाती है वैसे ही खाअी में से निकलते हुअे पानी की सतह की भी अेक भयानक नाली बन जाती है, मगर अद्भुत रस का चमत्कार तो अिसके आगे है। अिस नाली में से अपनी नाव को ले जाने वाले कअी हिम्मतवर मल्लाह भी वहाँ पडे हुअे हैं। नाव के दोनों ओर पानी की अूंची-अूंची दीवालों को नाव के ही वेग से दौडती हुअी देखकर मनुष्य के मन में क्या होता होगा !

भद्राचलम् से राजमहेन्द्री या धवलेश्वर तक अखड गोदावरी बहती है। अुसके बाद 'त्यागाय सभृतार्थानाम्'* का सनातन सिद्धान्त अुसे याद

*त्याग—दान—करने के लिअे ही धन-दौलत जमा करनेवाले।

आया होगा। यहीं से गोदावरी ने जीवन-वितरण करना शुरू किया। अेक किनारे पर गौतमी गोदावरी है, और दूसरे किनारे पर वसिष्ठ-गोदावरी, बीच में कअी टापू और अन्तर्वेदी प्रदेश हैं, और अिन प्रदेशों में गोदावरी के मीठे जल और सोने जैसी मिट्टी से पैदा होनेवाले धान से पुष्ट होकर वेद-घोष करनेवाले ब्राह्मण रहते हैं। अैसे समृद्ध देश को स्वतन्त्र रखने की शक्ति जब हमारे देशवासी खो बैठे, तब डच, अँग्रेज और फ्रैंच लोग गोदावरी के किनारे पड़ाव डालने को इकट्ठे हुअे। आज भी यानाम में फ्रान्स का तिरगा झडा फहरा रहा है।

(३)

मद्रास से राजमहेन्द्री जाते हुए बेजवाडे से आगे सूर्योदय हुआ। बरसात के दिन थे। अिसलिअे पूछना ही क्या ? जहाँ-तहाँ विविध छटा-वाली हरियाली फैल रही थी। और हरियाली का अिस तरह जमीन पर पड़ा रहना जिन्हें नागवार लग रहा हो अैसे ताड़ के पेड जहाँ-तहाँ खडे हुअे अिस तरह दिखाअी पड़ते थे, मानों हाथ में बड़े-बडे गुलदस्ते लेकर अुछाल रहे हैं। पूर्व की तरफ़, अेक नहर रेल की सडक के किनारे-किनारे बह रही थी। पर किनारा अूचा होने के कारण, अुसका पानी हमें कभी-कभी दीख पडता। सिर्फ तितली की तरह अपने-अपने पाल फैलाकर कतार में खडी हुअी नौकाओं पर से ही हमें नहर का अनुमान करना पडता था। बीच-बीच में छोटे-बडे तालाब भी मिलते। अिनमें रंग-बिरगे बादलोंवाला आसमान नहाने के लिअे अुतरता हुआ दिखाअी पडता और अिससे पानी की गहराअी और भी अथाह हो जाती। कहीं कहीं चंचल कमलों के बीच खामोश खडे हुअे बगुलों को देखकर सवेरे की ठडी-ठंडी हवा का अभिनन्दन करने को मन मचल पडता। अिस तरह कविता-प्रवाह में से बहकर जाते हुए कोव्वूर स्टेशन आ गया। मन में यह अुमग

भरी हुअी थी कि अब यहीं से गोदा मैया के भी दर्शन होने लगेंगे। पुल पर से गुजरते वक्त दाँयें देखेंगे या बाँयें, हम अिसी अुधेड़-बुन में थे। पुल आ गया और भगवती गोदावरी का अत्यन्त विशाल विस्तार दिखाअी पड़ा। मैंने गंगा, सिन्धु, शोणभद्र, अैरावती जैसी महानदियों के विशाल प्रवाह जी भरकर देखे हैं। बेजवाड़े में कृष्णा माता के दर्शन के लिअे मैं हमेशा मग़रूर बना रहूँगा; लेकिन राजमहेन्द्री के आगे गोदावरी की शान-शौकत ही कुछ निराली है। अिस जगह पर मैंने जितने भव्य-काव्य का या प्रकृति के ठाठ-बाट का अनुभव किया अुतना शायद ही कहीं दूसरी जगह किया हो। पश्चिम की तरफ नजर फैलाअी तो दूर-दूर तक पहाड़ियों का झुण्ड नज़र आया। आसमान में बादल घिरे रहने से सूरज की धूप का कहीं नाम-निशान तक न था। बादलों का रंग साँवला होने के कारण गोदावरी के धूलि-धूसरित—मटमैले—जल की झाअीं और भी गहरी हो रही थी। भला अैसे समय भवभूति की याद क्यों न आती? अूपर की और नीचे की झाअीं के कारण अिस सारे दृश्य पर वैदिक प्रभात की शीतल और स्निग्ध सुंदरता छायी हुअी थी। और टेकरियों पर कुछ अुतरे हुअे धौले-धौले बादल तो बिलकुल ऋषि-मुनियों जैसे लगते थे। अिस सारे दृश्य का वर्णन किया ही कैसे जा सकता है? अितना यह सारा पानी कहाँ से आता होगा? विपत्तियों में से विजय-सहित पार हुआ राष्ट्र जिस तरह वैभव की नअी-नअी छटायें बतलाता जाता है और चारों तरफ अपनी समृद्धि फैलाता जाता है, अुसी तरह गोदावरी का यह अखण्ड प्रवाह पहाड़ों में से निकलकर अपने गौरव को साथ में लिअे हुअे आता हुआ दिखाअी पड़ता है। छोटे-बड़े जहाज तो नदी के बच्चे हैं, जो माता के स्वभाव से परिचित होने के कारण अुसकी गोद में मनमाना नाचें, खेलें और अुछलें-कूदें तो अुन्हें

अिससे रोकनेवाला है कौन ? लेकिन बच्चों की अुपमा तो अिन नावों की अपेक्षा प्रवाह में जहाँ-तहाँ पड़ती हुई भँवरों को देनी चाहिअे। कुछ देर दीख पड़ी, थोड़ी ही देर में भयानक तूफान का स्वाँग रचा, और अेक ही पल में खिल-खिलाकर हँस पड़ीं। ये भँवरें न जाने कहाँ से आतीं और कहाँ चली जाती हैं ?

अैसे लंबे-चौड़े और भारी पाट के दरमियान अगर टापू न हों तो अिनकी कमी ही रह जाय। गोदावरी के टापू खूब प्रसिद्ध हैं। कभी तो पुराने धर्म की तरह जहाँ-के-तहाँ स्थिर रूप होकर जमे हुअे हैं। और कभी अेक कवि की प्रतिभा की तरह क्षण-क्षण भर में स्थल की नवीनता अुत्पन्न कर लेते और नया-नया रूप ग्रहण करते हैं। अिन टापुओं में अनासक्त बगुलों को छोड़ और कौन रहने जाय ? और जब बगुले चलते हैं तो वे अुनपर अपने पैरों के गहरे निशान छोड़े बगैर और जगह कैसे जायँ ? अपने धवल चारित्र का अनुकरण करनेवालों के लिअे चरणचिन्हों द्वारा अगर वे दिशा-सूचन न करें तो वे बगुले ही कैसे ?

नदी का किनारा यानी मनुष्य की कृतज्ञता का अखंड अुत्सव ! किनारे पर के सफेद महल और मंदिर और अुनके ऊँचे-ऊँचे शिखर ही अेक अखंड अुपासना है। परंतु अितने ही से काव्य सम्पूर्ण नहीं हो जाता। अिस-लिअे भक्त लोग नदी की लहरों पर से मंदिरों के घंटानाद की लहरों को अिस पार से अुस पार तक पहुँचाते रहते हैं। संस्कृति के अुपासक भारत वासी अिसी जगह गंगा-जल के आधे कलश गोदावरी में अुँडेलते और फिर गोदावरी के जल से कलश भरकर ले जाते हैं। कितनी भव्य विधि है ! कितना पवित्र काव्य है ! यह भक्ति-रव* तो हृदय में भरा हुआ है ! और मंदिरों के घंटानाद और अिस हृदय-नाद को तो पूर्व

---

*रव=शब्द

स्मृति ने ही सुनाया। कानों को तो सिर्फ ॲंजिन की आवाज ही सुनाअी पड रही थी। अगर हम आधुनिक सस्कृति के अिस प्रतिनिधि से नफरत करना छोड़ दें तो रेल के पहिये का ताल कुछ कम आकर्षक नहीं लगता और पुल पर तो अुसका विजयनाद सक्रामक—दूर-दूर तक फैल जानेवाला—होकर ही रहता है।

पुल पर गाड़ी अच्छी तरह चलने के बाद मुझे ख्याल आया कि पूरब की तरफ देखना तो छूट ही गया। हमने अिस तरफ घूमकर देखा तो वहाँ निराली ही रौनक नजर आयी। पश्चिम तरफ गोदावरी जितनी चौड़ी थी, अुससे भी कहीं ज्यादा पूरब में थी। अुसे अनेक मार्गों से और अुत्तेजित होकर समुद्र में मिलना था। सरित्पति से सरिता मिलने जाय, तब अुसे संभ्रम—घबराहट—और अुत्तेजना तो होगी ही, पर गोदावरी तो धीरोदात्त माता ही ठहरी। अुसका सभ्रम भी अुदात्त रूप में ही प्रगट हो सकता है। अिस ओर के टापू कुछ और ही किस्म के थे। अुनमें वनश्री की शोभा पूरी पूरी खिल रही थी। ब्राह्मणों या किसानों के झोंपडे अिस ओर से दिखाअी नहीं पड़ते थे। अगर बहते हुअे पानी के हमले के सामने टक्कर लेते अिन दो टापुओं में किसीने अूँचे महल बनाये होते तो वे दूर से ही दीख पडते। कुदरत ने तो सिर्फ अूँचे-अूँचे पेड़ों की विजयपताकायें खडी कर रक्खी थीं। और बायीं ओर राजमहेन्द्री और धवलेश्वर का सुखी जन-समाज आनन्द मना रहा था। अैसे दुर्लभ दृश्य के दर्शन से तृप्त होने से पहले ही दाहिनी ओर नदी के किनारे से सटकर मस्ती और अल्हडपन के साथ बहते हुअे काँस की सफेद कलगियों का स्थावर प्रवाह दूर-दूर तक जाता हुआ नजर आ रहा था नदी के पानी में अुन्माद था, अुस में लहरें न थीं, कलगियों के इस प्रवाह ने हवा के साथ जो षड्यंत्र रचा था, अुससे वह मनमानी अूँची हिलोरें अुछाल सकता था। जहाँतक दृष्टि दौड़

अिससे रोकनेवाला है कौन ? लेकिन बच्चों की अुपमा तो अिन नावों की अपेक्षा प्रवाह में जहॉ-तहॉ पड़ती हुई भॅवरों को देनी चाहिअे। कुछ देर दीख पडी, थोडी ही देर में भयानक तूफान का स्वॉंग रचा, और अेक ही पल में खिल-खिलाकर हॅस पडीं। ये भॅवरें न जाने कहॉ से आतीं और कहॉ चली जाती हैं ?

अैसे लबे-चौडे और भारी पाट के दरमियान अगर टापू न हों तो अिनकी कमी ही रह जाय। गोदावरी के टापू खूब प्रसिद्ध हैं। कअी तो पुराने धर्म की तरह जहॉ-के-तहॉं स्थिर रूप होकर जमे हुअे हैं। और कअी अेक कवि की प्रतिभा की तरह क्षण-क्षण भर में स्थल की नवीनता अुत्पन्न कर लेते और नया-नया रूप ग्रहण करते हैं। अिन टापुओं में अनासक्त बगुलों को छोड़ और कौन रहने जाय ? और जब बगुले चलते हैं तो वे अुनपर अपने पंरो के गहरे निशान छोडे बगैर और जगह कैसे जायॅ ? अपने धवल चारित्र का अनुकरण करनेवालों के लिअे चरणचिन्हों द्वारा अगर वे दिशा-सूचन न करें तो वे बगुले ही कैसे ?

नदी का किनारा यानी मनुष्य की कृतज्ञता का अखड अुत्सव ! किनारे पर के सफेद महल और मदिर और अुनके ऊँचे-ऊँचे शिखर ही अेक अखड अुपासना है। परतु अितने ही से काव्य सम्पूर्ण नहीं हो जाता। अिसलिअे भक्त लोग नदी की लहरों पर से मदिरों के घटानाद की लहरों को अिस पार से अुस पार तक पहुँचाते रहते हैं। सस्कृति के अुपासक भारतवासी अिसी जगह गंगा-जल के आधे कलश गोदावरी में उॅडेलते और फिर गोदावरी के जल से कलश भरकर ले जाते हैं। कितनी भव्य विधि है ! कितना पवित्र काव्य है ! यह भक्ति-रव* तो हृदय में भरा हुआ है ! और मंदिरो के घटानाद और अिस हृदय-नाद को तो पूर्व

---

*रव=शब्द

स्मृति ने ही सुनाया। कानों को तो सिर्फ अेंजिन की आवाज ही सुनाओी पड रही थी। अगर हम आधुनिक सस्कृति के अिस प्रतिनिधि से नफरत करना छोड़ दें तो रेल के पहिये का ताल कुछ कम आकर्षक नहीं लगता और पुल पर तो अुसका विजयनाद संक्रामक—दूर-दूर तक फैल जानेवाला—होकर ही रहता है।

पुल पर गाडी अच्छी तरह चलने के बाद मुझे ख्याल आया कि पूरब की तरफ देखना तो छूट ही गया। हमने अिस तरफ घूमकर देखा तो वहाँ निराली ही रौनक नजर आयी। पश्चिम तरफ गोदावरी जितनी चौड़ी थी, अुससे भी कहीं ज्यादा पूरब में थी। अुसे अनेक मार्गों से और अुत्तेजित होकर समुद्र में मिलना था। सरित्पति से सरिता मिलने जाय, तब अुसे संभ्रम—घबराहट—और अुत्तेजना तो होगी ही, पर गोदावरी तो धीरोदात्त माता ही ठहरी। अुसका संभ्रम भी अुदात्त रूप में ही प्रगट हो सकता है। अिस ओर के टापू कुछ और ही किस्म के थे। अुनमें वनश्री की शोभा पूरी पूरी खिल रही थी। ब्राह्मणों या किसानों के झोंपडे अिस ओर से दिखाओी नहीं पड़ते थे। अगर बहते हुअे पानी के हमले के सामने टक्कर लेते अिन दो टापुओं में किसीने अूँचे महल बनाये होते तो वे दूर से ही दीख पडते। कुदरत ने तो सिर्फ अूँचे-अूँचे पेड़ों की विजयपताकायें खड़ी कर रक्खी थीं। और बायीं ओर राजमहेन्द्री और धवलेश्वर का सुखी जन-समाज आनन्द मना रहा था। अैसे दुर्लभ दृश्य के दर्शन से तृप्त होने से पहले ही दाहिनी ओर नदी के किनारे से सटकर मस्ती और अल्हडपन के साथ बहते हुअे काँस की सफेद कलगियों का स्थावर प्रवाह दूर-दूर तक जाता हुआ नजर आ रहा था नदी के पानी में अुन्माद था, अुस में लहरें न थीं, कलगियों के इस प्रवाह ने हवा के साथ जो षडयंत्र रचा था, अुससे वह मनमानी [illegible] अुछाल सकता था। जहाँतक दृष्टि [illegible]

सकती थी वहाँतक देखा, और दृष्टि की पहुंच यहां कम ही क्यों हो? लेकिन कॉस की कलगियों का प्रवाह तो वहता ही जा रहा था। गोदावरी के प्रवाह के साथ–होड़ करते हुअे भी अुसे सकोच न होता था। और वह संकोच क्यों करे? गोदावरी माता के विशाल तट पर अिसने क्या कम स्तन्यपान किया था?

माता गोदावरी! राम-लक्ष्मण और सीता से लेकर बूढे जटायु तक सवको तूने ही स्तन्य-पान कराया है। तेरे तट पर शूरवीर भी पैदा हुअे हैं और बडे-बड़े तत्वज्ञानी भी, सत-साधु भी जन्मे और धुरधर राजनीतिज्ञ भी पैदा हुअे। देश-भक्त पैदा हुअे और ईश्वर-भक्त भी। चारों वर्ण की तू माता है। मेरे पूर्वजों की तू अधिष्ठात्री देवता है। नयी नयी आशाओं को लेकर मैं तेरे दर्शन के लिये आया हूँ। दर्शन से तो कृतार्थ हो गया हूँ, पर आशायें अभी तृप्त नहीं हुअीं। जिस प्रकार तेरे किनारे श्रीरामचन्द्र ने दुष्ट रावण के नाश का सकल्प किया था, वैसा ही सकल्प कब से मैं किये हुये हूँ। तेरी कृपा होगी तो हृदय में से—अुसी तरह देश में से—रावण का राज्य मिट जायगा। राम-राज्य की स्थापना होते देखूँगा, और फिर तेरे दर्शन के लिये आअूंगा। और कुछ नहीं तो काँस की कलगी के प्रवाह की तरह तू मुझे उन्मत्त बना देना, जिससे बिना सकोच के अेक ध्यान लगाकर माता की सेवा में निरत रह सकूँ और बाकी सब कुछ भूल जाअूँ। तेरे जल मे अमोघ शक्ति है, तेरे पानी की अेक बूँद का सेवन भी व्यर्थ नहीं जाता।

परिशिष्ट (१)

पात्र-परिचय
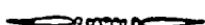
(२) कृष्णा के संस्मरण—

१. शाहूजी महाराज— छत्रपति शिवाजी महाराज के पौत्र, अिन्होंने सतारा को राजधानी बनाया था और वहीं रहते थे। अिनका बचपन मुगलों के दरबार में बीता था।

२. श्रीसमर्थ रामदास— महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सत महात्मा और छत्रपति शिवाजी महाराज के गुरु। इनका जन्म शक सवंत १५३० के लग-भग चैत्र शुद्ध ९ [श्रीरामनवमी] के दिन हुआ था। लडकपन से ही बहुत विरक्त और रामभक्त थे। माता पिता ने अिनका विवाह करना चाहा। पर ये विवाह-मडप से अुठकर भाग खड़े हुअे और नासिक के समीप अेक गुफा में जाकर तपस्या करने लगे। फिर बहुत दिनों तक भारतवर्ष के तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। शिवाजी महाराज अिनकी महिमा सुनकर अिनके दर्शन के लिअे आये और तबसे अिनके शिष्य हो गये। समर्थ रामदासजी ने सुप्रसिद्ध महाराष्ट्र-धर्मग्रन्थ दासबोध की रचना की, राष्ट्रधर्म को जागृत किया और कई मठ स्थापित किये। शारीरिक बल बढाने के लिये गाँव-गाँव में हनुमान के मदिर और व्यायाम—शालायें खोलीं। कहते हैं कि अिन्होंने अपने जीवन में अनेक विलक्षण चमत्कार दिखाये थे। अिनके अुपदेशों और भजनों का महाराष्ट्र में अधिक प्रचार है। महाराष्ट्र का भगवा [गेरुआ] झडा अिन्हीं की कृपा का प्रसाद है।

३. शिवाजी— महाराष्ट्र के सस्थापक और हिन्दवी स्वराज्य के निर्माता। सब कोई जानता है अिनकी वीरता, धर्मनिष्ठा, अुदारता और न्याय-परायणता को।

४. बाजीराव पेशवा— छत्रपति शाहूजी के प्रधानमंत्री। ये पूने में रहते थे। बड़े बहादुर और लड़ाकू सेनापति थे।

५. सरदार घोरपडे— पेशवों के अेक सरदार थे। बड़े निडर और बहादुर थे। मोगल बादशाह और नवाब अिनसे बहुत डरते थे।

६. पटवर्धन— पेशवों के ब्राह्मण सरदार, साँगली और मिरज आदि जगहों में अिनका शासन चलता था।

७. नाना फडनवीस— पेशवों के अर्थ-मन्त्री और पूना के पेशवाई दरबार के सर्वेसर्वा।

८. रामशास्त्री प्रभुणे— पेशवों के न्यायाधीश [जज] थे। बडे विद्वान्, धुरंधर राजनीतिज्ञ, धर्मात्मा, नि:स्पृह और सच्चे न्यायकर्ता थे। अेकबार आपने अेक दुराचारी पेशवा को मृत्युदण्ड का हुक्म सुनाया था। कहते हैं, जब राघोबा पेशवा पर अपने भतीजे सवाअी माधवराव पेशवा की हत्या का अभियोग लगाया गया और जब राघोबा ने रामशास्त्री से पूछा कि अिस अपराध के लिये मुझे क्या प्रायश्चित करना चाहिये तो निष्पक्ष और निर्भीक रामशास्त्रीजी ने साफ़ साफ कह दिया कि अैसे घोर कृत्य के लिये मृत्यु-दण्ड से कम कोअी प्रायश्चित हो नहीं सकता। तुम्हारे जैसे नर-हत्याकारी दुष्ट राजा के राज्य में पानी पीना भी मेरे लिये हराम है। अितना कहकर और अपना पद छोड़कर शास्त्रीजी अपने गाँव में जा बसे।

९. श्री अब्बास साहब—आप देश में अब्बास तैयबजी के नाम से मशहूर थे। अब्बास साहब महात्मा गांधी के श्रेष्ठ सखा-साथियों में से थे। कुछ बरस तक बडौदा राज्य के प्रधान न्यायाधीश (चीफ जस्टिस) भी रहे। जब अमृतसर में जलियाँवाला हत्याकाण्ड हुआ तब अुसके लिये कांग्रेस ने अेक जाँच-कमेटी नियत की थी अुसके आप अेक सदस्य थे। तभी से आप सब छोड-छाड़कर देश-सेवार्थ राष्ट्रीय आन्दोलन में अुतर पड़े। जेल भी

गये । बड़े ही अुदार विचार के और साधु पुरुष थे । मृत्यु के समय अब्बास साहब की अवस्था ८२ थी ।

१० श्री पुणतांबेकरजी–कुछ समय तक बबअी के राष्ट्रीय महाविद्यालय के आचार्य रहे । अिस समय आप बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में अितिहास विषय के प्रोफेसर हैं । आपने हिन्दी में 'राजनीति' और 'नागरिक-शास्त्र' पर कअी अच्छे ग्रन्थ लिखे हैं । हाथ की कताअी और बुनाअी" पर अेक बहुत उच्च कोटिका निबन्ध भी लिखा है ।

११. गिडवानीजी—[आसूदामल गिडवानी अेम्. अे.] आचार्य गिडवानी सिंध-प्रात के अेक अच्छे शिक्षाशास्त्री और अंग्रेजी के प्रभावशाली लेखक और वक्ता थे । कुछ समय तक गुजरात-विद्यापीठ के आचार्य भी रहे । बाद में वृन्दावन [मथुरा] के प्रेम-महाविद्यालय में प्रधानाध्यापक के पद पर काम किया । अभी कुछ वर्ष पहले आपका देहान्त हुआ ।

---

(३) गंगा मैया—

१. भीष्म—देवव्रत भीष्म कौरव-पाडवों के पितामह । ये कुरुदेश के राजा शान्तनु महाराज के पुत्र थे । कहते हैं कि राजा शातनु से गंगा ने अिस शर्तपर विवाह किया था कि मैं जो चाहूँगी, वही करूँगी, तुम मुझे टोक नहीं सकते । शान्तनु से गगाको सात पुत्र हुए थे । अुन सब को गगा ने पैदा होते ही जल में फेंक दिया था । जब आठवॉ पुत्र [देवव्रत] पैदा हुआ, तब शातनु ने गगा को अुसे जल में फेंकने से मना किया । गंगाने कहा–"महाराज आपने अपनी प्रतिज्ञा तोड दी, आपके पास अब न रहूँगी । मैं अिस पुत्रको छोड जाती हू । यह बहुत वीर, धर्मात्मा और दृढ़ प्रतिज्ञ होगा और आजन्म ब्रह्मचारी रहेगा । "

कहते हैं अेकबार राजा शान्तनु अेक सुंदरी धीवर-कन्या को, जिसका नाम सत्यवती या योजनगंधा था, देखकर अुसपर मोहित हो गये। अुन्होंने लडकी के पिता दासराज के पास जाकर विवाह के लिये सत्यवती की मँगनी की। पर धीवर ने कहा कि 'मेरी कन्या से पैदा हुआ लड़का ही आपके राज्य का अधिकारी होना चाहिये। देवव्रत राजकुमार का कोई अधिकार न रहेगा। अिसी शर्तपर मैं अपनी लडकी देने को तैयार हूँ।' शांतनु वचन न दे सके और मन मारकर अपनी राजधानी हस्तिनापुर में लौट आये। देवव्रत राजकुमार पिताजी की अुदासी का कारण सुनकर अुस लडकी के पिता के पास स्वयं गये और पितृहितार्थ प्रतिज्ञा की कि मैं स्वयं राज्य नहीं लूंगा और सत्यवती का पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा। लेकिन धीवर ने फिरभी दूसरा सन्देह किया कि आप नहीं तो आपका भावी पुत्र राज्य-प्राप्ति के लिये जरूर लडाअी-झगडा मचाअेगा। यह सुनकर देवव्रत ने दूसरी प्रतिज्ञा की कि मैं विवाह ही न करूंगा और आजन्म ब्रह्मचारी रहूँगा। अिसी भीषण कठोर प्रतिज्ञा के कारण देवव्रत के स्थानपर अुनका नाम भीष्म पड़ा। महाभारत-युद्ध के समय भीष्म पितामह ने कौरवों का पक्ष लेकर दस दिन तक बडी वीरता के साथ भीषण युद्ध किया था, और अन्त में अर्जुन के हाथों घायल होकर शर-शय्या पर पड़ गये। ये बडे ज्ञानी, धर्मात्मा राजनीतिज्ञ थे। अिन्होंने शरशय्या पर पडे पड़े युधिष्ठिर महाराजको बहुत अच्छे अच्छे अुपदेश दिये थे जिनका अुल्लेख महाभारत के 'शांतिपर्व' में है। माघ सुदी अष्टमी को सूर्य के अुत्तरायण होने पर अिन्होंने अपनी अिच्छा से ही शरीर छोडा था। इस लिये वह दिन भीष्माष्टमी के नाम से प्रसिद्ध है।

२ बुद्ध—सुप्रसिद्ध महात्मा गौतमबुद्ध, जो बौद्धधर्म के प्रवर्तक थे। अिनका जन्म अीसा के लग भग ५५० बरस पहले—विक्रमी संवत् ५०७ पूर्व राजकुल में, नेपाल की तराअी में कपिलवस्तु के पास लुंबिनी नामक स्थान में, हुआ था। अिन के जन्म के थोडे ही दिनों बाद अिनकी माता की मृत्यु हो गअी और अिनका पालन-पोषण अिनकी विमाता प्रजापती ने किया। बालक का नाम गौतम अथवा सिद्धार्थ रक्खा गया। गुरुजी ने इन्हें अनेक

शास्त्रों, भाषाओं, कलाओं और अस्त्र-शस्त्र आदि चलाने की पूरी शिक्षा दी थी। ये किसी तरह के खेल-कूद, आमोद-प्रमोद आदिमें सम्मिलित न होते थे। युवावस्था में अिनका विवाह राजकुमारी यशोधरा के साथ हुआ। शुद्धोदन ने कुमार की अुदासीन वृत्ति देखकर अिन के मनोविनोद के लिये अनेक सुदर महल, बाग-बगीचे, नृत्य-शालाअें, रग-शालाअें आदि बनवा दिये थे और सुख-भोग-विलास की सारी सामग्री अेकत्र कर दी थी। तिसपर भी राजकुमार का मन ससारी सुखों से सदा अुदास रहता और वे अेकातवास ही ज्यादा पसद करते थे। अेकबार अेक दुर्बल बूढे मनुष्य को, अेकबार अेक रोगी को और अेकबार अेक शव [मुर्दा] को देखकर ये ससार से और भी अधिक विरक्त तथा अुदासीन हो गये। पर पीछे से अेक सन्यासी को देखकर अिन्होंने सोचा कि सासारिक क्लेशों से छुटकारा पानेका मुख्य अुपाय सच्चा वैराग्य ही है। जब यशोधरा के गर्भ से अेक बालक जन्मा तो अुन्होंने ससार का परित्याग करना ही निश्चित कर लिया। कुछ दिनों बाद, अेक दिन, रात में, अपनी स्त्री को निद्रावस्था में छोडकर, २९ वर्ष की अुम्र में, ये घर छोडकर जगल में निकल गये और सन्यासी हो गये। अिन्होंने गया के समीप नेरजरा नदीके किनारे कुछ दिनों तक रहकर घोर तपश्चर्या की और सात वर्ष बाद अेक दिन रात को महाबोधि वृक्षके नीचे अिनको आत्म-बोध हुआ और अिन्होंने दिव्य ज्ञान प्राप्त किया। अुसी दिन से ये बुद्ध कहलाये। बुद्ध-पद प्राप्त करने के बाद धर्म-प्रचार करने के लिये ये काशी आये। अिनके अुपदेश सुनकर धीरे धीरे बहुत से लोग अिनके शिष्य और अनुयायी होने लगे। थोडे ही दिनों में अनेक राजा, राजकुमार और दूसरे बड़े बडे प्रतिष्ठित धनी-मानी लोग अिनके धर्म के अनुयायी बन गये जिनमें मगधके राजा बिंबसार भी थे। बुद्ध देव अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुये हजारों आदमियों को अपना अनुयायी बनाते और धर्म-प्रचार करते रहे। आपने ४४ बरस तक बिहार तथा काशी के आस पास के प्रांतों में अपने धर्म का प्रचार किया था। अन्त में कुशीनगर के पास जगल में दो वृक्ष के बीच वृद्धावस्[illegible]

शरीरांत या निर्वाण हुआ। हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार भगवान बुद्ध ईश्वर के दस अवतारों में नवें अवतार माने जाते हैं। जापान, चीन, ब्रह्मदेश, सीलोन, तिब्बत आदि देशों में बौद्धधर्म का प्रचार है।

३. महावीर— जैनियों के चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर। ये बुद्ध के समकालीन थे। अहिंसा-धर्म के अुपदेशक थे। ये भी राजपुत्र थे और नाम वर्द्धमान था। ये बहुतही शुद्ध और शात प्रकृति के थे। तीस बरस की अुम्र में ये अपना राज्य और सारा वैभव तथा कुटुंब परिवार छोडकर वनमें चले गये और बारह बरस तक अिन्होंने घोर तपस्या की। इसके बाद ये इधर-उधर घूमकर अपने मत का प्रचार करने लगे। कहते हैं कि अिनके जीवनकाल में ही सारे मगध देश में जैन-धर्म का प्रचार हो गया था। भारतवर्ष का अैसा कोअी प्रात नहीं जहाँ अिनके धर्म के अनुयायी न हों।

४. अशोक— भारतवर्ष के अेक प्राचीन सम्राट। आप पाटलिपुत्र (पाटना) मगध-साम्राज्य के सम्राट, शाति और सहिष्णुताके अनन्य प्रचारक थे। आपके दिये हुअे शासन के आदेश भारतवर्ष में जगह-जगह पत्थरों पर खुदे हुए है।

५. समुद्र गुप्त— गुप्त राजवश के अेक बहुत बडे, प्रसिद्ध और महापराक्रमी सम्राट। अिनका समय सन् ३३५ से ३७५ ई. तक माना जाता है। अिन्होंने अनेक बडे बडे राज्यों को जीतकर गुप्त-साम्राज्य की स्थापना की थी। अिनका साम्राज्य हुगली से चंबल तक और हिमालय से नर्मदा तक फैला हुआ था। पाटलिपुत्र अिनकी राजधानी थी। अिन्होंने अेकबार अश्वमेध-यज्ञ भी किया था।

६. सम्राट हर्ष— स्थानेश्वर के भारत सम्राट थे। ये महापराक्रमी और विद्याप्रेमी राजा थे। श्रमणों और ब्राह्मणों (बौद्धों और सनातनियों) को समान भावसे मानते थे और आश्रय देते थे। अिनका राज्य विक्रम की

सातवीं सदीं में था। सस्कृत का प्रसिद्ध कवि बाणभट्ट अिनकी सभा में रहता था। प्रासिद्ध चीनी यात्री हुएनसाग अिन्हीं सम्राट के समय मे हिंदुस्थान में आया था।

७–८. तुलसी और कवीर यानी हिन्दी के प्रसिद्ध भक्तकवि तुलसीदासजी और महात्मा कबीरदासजी। हिन्दी जाननेवाला शायद ही कोअी ऐसा व्यक्ति होगा जिसने अिन दोनों के बारे में न सुना हो।

९. उत्तरकाशी— यह अेक तीर्थस्थान है जो हरिद्वार के अुत्तर में है और बद्रीनारायण के यात्रियों को रास्ते में पडता हैं।

१०. देवप्रयाग— हिमालय में टिहरी जिले के अन्तर्गत अेक तीर्थ-स्थान। यह गगा और अलकनदा के सगम पर स्थित है।

११. शर्मिष्ठा देवयानी - शर्मिष्ठा दैत्यों के राजा वृषपर्वा की पुत्री थी जो शुक्राचार्यजी की लडकी देवयानी की सखी थी।

कहते हैं कि अेकबार दोनों, किनारे पर अपने कपड़े रखकर जल-विहार करने के लिये अेक जलाशय में अुतर पडीं। शर्मिष्ठा ने जल्दी जल्दी में, भूल से देवयानी के कपडे पहन लिये। अिसपर दोनों में झगडा हुआ और शर्मिष्ठा ने देवयानी को कुँअे में ढकेल दिया। शर्मिष्ठा यह समझकर कि देवयानी मर गई, अपने घर चली आयी। अिसी बीच नहुषराजा का पुत्र ययाति शिकार खेलने आया। अुसने देवयानी को कुँअे से निकाला। जब ययाति के साथ देवयानी का विवाह हुआ तो अुसने अपने पिता शुक्राचार्य से चुगली कर कह दिया कि 'शर्मिष्ठा आपका बहुत तिरस्कार करती थी, अतः मेरी इच्छा है कि आप उसे मेरी दासी बनाकर दहेजमें मुझे दे दें।' शुक्राचार्य नें कन्या-दान के साथ शर्मिष्ठा को दासी बनाकर देवयानी को दे दिया।

[४] यमुनारानी-

१. पानीपत— प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान, यह यमुना के किनारे आबाद है। यहीं के मैदान में मुगलों और मराठों की प्रसिद्ध लडाई हुअी थी।

२. बाबर— यह हुमायूँ बादशाह का पिता था और हिन्दुस्थान का अेक मोगल बादशाह।

३. शाहजहाँ— बादशाह जहाँगीर का बेटा। सन् १६२७ ई० में दिल्ली के तख्तपर बैठा। प्रजा आसानी से अुसके पास अिन्साफ़ के लिये पहुँच सकती थी। अुसके कअी सेनापति [सिपहसालार] हिन्दू थे। ईसाई धर्मकी भी सहायता की जाती थी। अुसने अपने समयमें खूबसूरत अिमारतें बनवाअीं। अुसकी कीर्ति को हमेशा अमर रखनेवाला सब से बढकर आगरे का ताजमहल है। आज अिसकी बराबरी की दूसरी कोअी अिमारत दुनिया में नहीं है। शाहजहाँ अपनी बेगम मुमताज महल को बहुत चाहता था। अुसके मर जानेपर अुसीकी यादगार में ताजमहल बनकर तैयार हुआ। यह अिमारत १८ बरस में तैयार हुअी थी। और २० हजार मजदूरों नें लगातार काम किया था। अिस भव्य इमारत के बनवाने में लगभग ३६ करोड रुपये खर्च हुअे थे। दुनिया के हजारों यात्री हिन्दुस्थान में आकर आगरे के अिस ताजमहल को देखे बिना वापस नहीं जाते। मालूम होता है मानों बादशाह शाहजहाँ और बेगम मुमताज महल के स्वर्गीय प्रेम का अंकुर आगरे में जमकर जमना-जल की ठंढक से अैसा हो गया है।

---

[७] दक्षिण गंगा गोदावरी—

१. वाल्मीकि—संस्कृत रामायण के रचयिता और संस्कृत के आदिकवि कहे जाते हैं। ये तमसा नदी के किनारे रहते थे। अेकबार

अपने शिष्यों सहित नदी तटपर स्नान करने गये। वहा अेक निषाद ने क्रौंच पक्षी को मार डाला। क्रौंच भूमिपर गिर पड़ा और क्रौंची शोक के मारे चीखने-चिल्लाने लगी। यह करुण दृश्य देखकर मुनि का हृदय दुःखित हो भभक अुठा और अुनके मुँहसे यह वाक्य निकल गया-"मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमच्छाश्वती-समाः। यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम्। यह वाक्य संस्कृतमय विशुद्ध वर्ण-युक्त सुन्दर सरल नये अनुष्टुप् छद में था। यह छद मुनि को अितना अच्छा लगा कि अुन्होंने समस्त रामायण महाकाव्य अिसी छंद में रच डाला।

२. राजा रंतिदेव— कहते हैं कि ये बडे दानी राजा थे। राजा रंतिदेव ने इतने यज्ञ किये थे कि यज्ञ में मारे हुअे पशुओं के चर्म से नदी का तट ढक जाता था। अिसीलिये नदी का नाम चर्मण्वती पडा। सर्वस्व दे डालने पर इन्हें ४८ दिनतक पीने को पानी भी न मिला। ४९ वें दिन ये कुछ खाने-पीने की तैयारी कर ही रहे थे कि बारी बारी से अेक ब्राह्मण, अेक शूद्र, ओर कुत्ते को लिये हुए एक आतिथि आ पहुँचे। खाने-पीने का सारा सामान अतिथि-सत्कार में ही समाप्त हो गया, सिर्फ जल बच रहा। अुसे पीने के लिये ज्योंही इन्होंने हाथ उठाया कि एक प्यासा चांडाल अुनके पास आया और पीने के लिये जल मांगा। राजा ने वह भी दे दिया। अन्त में भगवान ने प्रसन्न होकर इन्हें मोक्ष दिया।

३ ज्ञानेश्वर महाराज— महाराष्ट्र के आदिकवि और सत। अिनके पिता सन्यास ग्रहण कर फिर गृहस्थाश्रम में आ गये थे, अिसलिये ज्ञानेश्वर को और अुन के भाअी-बन्धुओं को जातिवालों ने बहिष्कृत कर दिया था। ज्ञानेश्वर की गीता-टीका ज्ञानदेवी अथवा ज्ञानेश्वरी के नाम से प्रसिद्ध है। ये अद्वैतवादी भक्त थे। किंतु अिनकी परम्परा वैष्णवी नाथसम्प्रदाय की है। २२ साल की अुम्र में ही अिन्होंने जीवित समाधि ले ली थी।

परिशिष्ट (२)

कठिन शब्दार्थ

[१] सखी मार्कण्डी

पृष्ठ–१ गूलर–अेक वृक्ष, जिसे संस्कृत में उदुंबर कहते हैं। इसका फल सब्ज अजीर की तरह होता है और इस फल के अंदर छोटे छोटे कीड़े रहते हैं।

छाँह–छाया.

निहारना–देखना.

लुभावने–ललचाने वाले

कल–कूजन (जल-प्रवाह का) मधुर शब्द.

जल प्रपात–ऊँचाई से गिरने वाली जलराशि या झरना.

स्निग्ध–स्नेहयुक्त.

उद्गम–उत्पत्ति स्थान, निकास

नक्शा–मान-चित्र, (अंग्रेजी में Map)

सहवास–साथ-साथ रहना

पृष्ठ–२ जिज्ञासा–जानने की इच्छा.

निराला–अनोखा, अद्भुत

उपाख्यान–पुरानी कथा, किस्सा

भले ही–अच्छी बात है, जिससे कोई हानि नहीं.

पाश–फंदा.

धृष्टता–ढिठाई, अनुचित साहस

पृष्ठ–३ आयु धारा–उम्र की धार (जलरूप में)

अठखेलियाँ–क्रीडा, विनोद

लावण्य–सौन्दर्य, खूबसूरती

[२] कृष्णा के संस्मरण—

माहुली—महाराष्ट्रमें एक स्थान।
सतारा—महाराष्ट्र प्रांत का अेक ज़िला और शहर
समाधि—क़ब्र या वह जगह जहा लाश को गाड़ते हैं।
भव्य—शानदार, देखने में अच्छा
कडाके की—खूब जोर की। (कडाका—लघन) जैसे—
कडाके की भूख या कडाके का जाडा।
पृष्ठ—५ नरसोबा की वाडी—यह भी सतारे के पास तीर्थ-स्थान है।
कगार—ऊँचा किनारा.
कछार—नदी-तट की भूमि, नदी के किनारे की तर भूमि.
आलीशान—विशाल, शानदार
कलशा—[कलश] घडा
अखाडेबाज—कसरत-कुश्ती का अभ्यास करनेवाले
भीमकाय—बहुत बडे-और मोटे शरीर वाला
अेकश्रुति—अेकसी आवाज करते हुअे।
पृष्ठ—६ औंधा—उलटा
जगम—चलने-फिरनेवाला.
स्थावर—अचल.
आराध्य—पूजनीय, पूजा के योग्य
न्यायनिष्ठा—न्यायपरायणता, इन्साफपसंदी
परवरिश—पालन-पोषण
सतधाम—सतोंका स्थान, तीर्थ-स्थान
देहू—इन्द्रायणी नदी के तटपर यह स्थान पूने के पास है।
आलंदी—सत तुकाराम और महात्मा ज्ञानेश्वर महाराज की समाधि
यहीं पर है।
सिराना—ठंढा करना.

अूर्जस्विता—तेजस्विता

पृष्ठ—१६ प्रौढ—पूर्णयुवा

देवाधिदेव—देवों के स्वामी

सरपरस्ती—सरक्षकता, बडप्पन

अुतावली—व्यग्रता

पृष्ठ—१७ अीर्ष्यालु—ईर्ष्या करने वाला

विघ्न सतोषी—विघ्न करके सतोष करने वाला

आडे आना—बीच में टेढा होकर गिरना

तरस—दया

अन्तर्वेदी—गगा यमुना के बीच का देश

टेहरी— यू. पी. में गढ़वाल की रियासत

श्रीनगर—टेहरी की राजधानी

हिन्दुस्थान की राजधानी—दिल्ली

खानदान—वश, घराना

सलतनत—राज्य

शिरच्छेद—सिरकाटना

भीषण—भयानक

रोमहर्षण— रोमाचकारी

अवसान—अन्त

मर्मभेदी—हृदय-विदारक

पृष्ठ—२० मेघश्याम—मेघ समान काले

धवलशीला—उज्ज्वल-चरित्र

अिन्दीवर श्याम—नील कमल समान श्याम

सुधा सालिला—अमृत समान जलवाली

जान्हवी—गगा

प्रगाढ—खूब

[५] नदी पर नहर

पृष्ठ-२१ पूनो–पूर्णिमा

राखी–रक्षा बंधन का त्यौहार [श्रावणी पूर्णिमा]

खिलाडी–खेलने वाला

हिल गया–परिचित हो गया

अनास्था–श्रद्धा का अभाव, उदासी

बेहूदी–अशिष्ट

दिलचस्पी–मन लगना, रुचि, शौक

धींगा धींगी–शरारत, उपद्रव, जबर्दस्ती

पृष्ठ–२२ उफान–उबाल, जोश

पृष्ठ–२३ निम्नगा- नदी

अखरना–मनको अनुचित मालूम होना

निर्व्याज–छलहीन

उदात्त--उन्नत

[६] सुवर्ण देश की माता—

पृष्ठ–२४ पौष्टिक–पुष्टि करनेवाला.

कलोल–आमोद-प्रमोद, क्रीडा.

बैठा-ठाला–बेकाम.

पुसाना–उचित या अच्छा मालूम होना

प्रवृत्ति–रुचि, झुकाव

बहाव–प्रवाह, धारा

पृष्ठ–२५ खुशकिस्मती–सौभाग्य, अहोभाग्य

शिकंजा–दबाने का यत्र

काशीतलवाहिनी–काशी के नीचे बहनेवाली

पृष्ठ–२६ श्रमजीवी–मेहनत करके जीवन निर्वाह करनेवाला, परिश्रम पेट पालनेवाला

खटपट–झगड़ा

किर किरा–कँकरीदार या आँखों को अच्छा न लगनेवाला, आखों में खटकने वाला

झोंका–हवा का आघात, धक्का

गोदना–शरीर पर कृत्रिम फूल बेल आदि के चिन्ह

पृष्ठ–२७ स्तूप–मिट्टी पत्थर आदि का बना टीला

उत्पात–अुपद्रव

पृष्ठ–२८ मेहमानी–आतिथ्य, पहुनाई

पृष्ठ–२९ घासलेटी–मिट्टी के तेल की,

अनिच्चा वत......–अनित्या बत सस्कारा अुत्पत्ति व्यय धर्मिणः। वस्तुजात सस्कार आनित्य हैं उत्पात्ति और नाश उनका धर्म है

श्रात–थका हुआ

[७] दक्षिण गंगा गोदावरी—

पृष्ठ–३० प्रभाती-सबेरे का गति विशेष

सतर–लकीर, पत्ति,

आतिशयोक्ति–बहुत बढा चढा कर वर्णन करना

पृष्ठ–३१ अनोखा– अद्भुत, विचित्र निराला

विपुलता–अधिकता बहुतायत

कगार–अूँचा किनारा

पक्षपात–तरफदारी

पृष्ठ–३२ दहाड–गर्जेना

जनस्थान–दण्डकारण्य

सार्वभौम–सारे भूमडल का

पृष्ठ-३३ विषमता–भीषणता, कठिनाई

कातर–दुःखित

देह-यष्टि–शरीर

पृष्ठ–३४ दशग्रंथी–चारों वेदों और वेदों के छ· अगों (षडग) के विद्वान

आयंदा–[आइदा] भविष्य में, आगे

पृष्ठ–३५ सपाट–अेकसा, समतल

पृष्ठ–३६ नागवार–अप्रिय

गुलदस्ता–कई तरह के फूलों और पत्तियों को शोभा के लिये विशेष रूप से एक- कॉच, पीतल या चांदी के पात्र में रक्खा जाता है उसे गुलदस्ता कहते हैं ।

पाल–नाव को चलाने के लिये मस्तूल [नाव का डडा] से बॉधा गया कपडा

खामोश–चुप

पृष्ठ–३७ उधेड़बुन–सोच-विचार

मगरूर–घमडी, अभिमानी

टेकरी–छोटी पहाडी

पृष्ठ–३८ अनासक्त–आसक्ति रहित

पृष्ठ–३९ निराली--अद्भुत

रौनक--शोभा

पृष्ठ–३९ सरित्पात्ति– समुद्र

धीरोदात्त–धैर्यवान और उदार

अल्हडपन–अुजड्डपन, अुद्दण्डता

कलगी (कलँगी)--शिरो भूषण, पक्षियों के सुंदर पंख जो मुकुट या टोपी में लगाये जाते हैं ।

पृष्ठ–४० कँास–अेक लंबी घास जो वर्षा ऋतु में फूलती है
होड–प्रतिस्पर्द्धा, शर्त
स्तन्यपान–माताके स्तन से निकले हुए दूध का पान।
अधिष्ठात्री–अध्यक्षा
निरत–लीन, लगा हुआ
अमोघ–अचूक, अव्यर्थ

मुद्रक— श्रीकृष्ण प्रिंटिंग वर्क्स, बच्छराज रोड, वर्धा.

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

मूल गोसाईं-चरित

(गोस्वामी तुलसीदासजीका जीवन-चरित्र)

सोरठा—संतन कहेउ बुझाय, मूलचरित पुनि भाषिये।
अति संक्षेप सोहाय, कहौं सुनिय नित पाठ हित ॥ १ ॥
चरित गोसाइं उदार, बरनि सकैं नहिं सहसफनि।
हौं मतिमंद गंवार, किमि बरनौं तुलसी-सुजस ॥ २ ॥

तोटक

ऋषि आदि कबीस्वर ग्याननिधी। अवतरित भये जनु आप बिधी ॥
सत कोटि बषानेउ रामकथा। तिहुं लोकमें बांटेउ संभु जथा ॥
दस स्यंदन वेद दसागमयं। स्रुति त्रैबिधि तीनिउ रानिजयं ॥
श्रीराम प्रनव स्रुति तत्त्व परं। निज अंसनि जुत नरदेह धरं ॥
इमि कीन्ह प्रबंध मुनीस जथा। हरि कीन्ह चरित्र पवित्र तथा ॥
हनुमंत प्रनव प्रिय प्रान रसै। परतत्त्व रमै तिसु सीस लसै ॥
यहि भाति परात्पर भाव लिये। सुचि राम परत्व बषान किये ॥
मुनिराज लषे अद्भुत रचना। कपिराज सों कीन्ह इहै जंचना ॥
यह गुप्त रहस्य है गोइ धरैं। बिनती हमरी न प्रकास करैं ॥
तब अंजनि-नंदन साप दियो। हंसि कै मुनि धारन सीस कियो ॥

दोहा—सहनसीलता मुनि निरषि, पवनकुमार सुजान।
बहु बिधि मुनिहिं प्रसंसि पुनि, दिये अभय बरदान ॥ १ ॥

कलिकाल मैं लैहहु जन्म जबै। कलि ते तव त्रान सदा करिबै ॥
तेहि साप के कारन आदि कबी। तमपुंज निवारन हेतु रबी ॥
उदये तुलसी उदघाटिहि ते। सुर संत सरोरुह से बिकसे ॥
सरवार सुदेस के बिप्र बड़े। सुचिगोत परासर टेक कडे ॥
सुभ थान पतेजि रहे पुरषे। तेहिते कुल नाम पडो झुरषे ॥
जमुना तट दूबन को पुरवा। बसते सब जातिन कौ कुरवा ॥
सुकृती सतपात्र सुधी मषिया। रजियापुर राजगुरू मुषिया ॥
तिनके घर द्वादस मास परे। जब कर्क के जीव हिमांसु चरे ॥
कुज सप्तम अष्टम भानु तनै। अभिहित सुठि सुंदर सांझ समै ॥

दो०—पंद्रह सै चौवन बिषै, कालिंदी के तीर।
स्रावन सुक्ला सत्तिमी, तुलसी धरेउ सरीर ॥ २ ॥

सुत जन्म बधाव लग्यो बजने। सजने छजने रजने गजने ॥
एक दासि कढ़ी तेहि औसर में। कहि देव बुलाहट है घर मे ॥
सिसु जंनमत रंचक रोओ नहीं। सो तो बोलेउ राम गिरेउ ज्यों मही ॥
अव देषिय दंत बतीसी जमी। नहिं षोल्हड़ पातिमैं नेक कमी ॥
जस बालक पांच को देषिय जू। तस जन्मतु आ निज लेषिय जू ॥
अब बूढ़ि भई भरि जन्म नहीं। सिसु ऐसो मैं देषिउ तात कहीं ॥
महरी कहती सुनि संष धुनी। जबहीं सो सभय सिसुनार छुनी ॥
जो लोगाइ हतीं कपतीं बकतीं। कोउ राकस जामेउ कहि झपतीं ॥
महाराज चलिय अब वेगि घरे। समुझाइ प्रसूति को ताप हरं ॥

दो०—उठे तुरत भृगुबंसमनि, सुनत चेरि के बैन।
ठाढ प्रसूती द्वार भे, पूरित जल सों नैन ॥ ३ ॥

छंद—पूरित सलिल दृग निरषि सिसु परिताप जुत मानस भये।
मन महं पुराकृत पापको परिनाम गुन बाहिर गये ॥
तब जुरै सब हित मित्त बाधव गनक आदि प्रसिद्ध जे।
लागे बिचारन का करिय नवजात सिसुकहं कहहिं ते ॥ १ ॥

दो०—पंचन यह निरनय किये, तीन दिवस पस्चात।
जियत रहै सिसु तब करिअ, लौकिक बैदिक बात ॥ ४ ॥

दसमी पर लागेउ ग्यारस ज्यों। घरि आइक राति गई जब त्यो ॥
हुलसी प्रिय दासि सों लागि कहै। ससि प्रान-पषेरू उड़ान चहै ॥
अब हीं सिसु ले गवनहु हरिपुर। बसते जंह तोरिउ सास ससुर ॥
तहं जोइबि पालबि मोर लला। हरिजू करिहै सषि तोर भला ॥
नहिं तो ध्रुव जानहु मोरे मुये। सिसु फेंकि पंवारहिंगे भकुये ॥
सषि जान न पावै कोऊ बतियां। चलि जायहु मग रतिया रतिया ॥
तेहि गोद दियो सिसु ढारस दै। निज भूषन दै दियो ताहि पठै ॥
चुपचाप चली सो गई सिसु लै। हुलसीं उर सूनु वियोग फवै ॥
गोहराइ रमेस महेस बिधी। विनती करि राषेवि मोर निधी ॥

दो०—ब्रह्ममुहूर्त्त एकादसी, हुलसी तजेउ सरीर।
होत प्रात अन्त्येष्टि हित, लैगे जमुना तीर ॥ ५ ॥

घरि पाचइ बार चढ़ै मुनिआ। निज सासके पायं गही चुनिआ ॥
सब हाल हवाल बताय चली। सुनि सास कही वहु कीन्ह भली ॥
घर माहिं कलोर को दूध पिआ। विनु माय को है सिसु लेसि जिआ ॥

तंह पालन सो लगि नेह भरै । जेहि ते सिसु रीझइ सोइ करै ॥
यहि भांति सों पैंसठ मास गये । सिसु बोलन डोलन जोग भये ॥
चुनिआ सुरलोक सिधार गई । डस्यो पन्नग ज्यो सो कोरार गई ॥
तब राजगुरू को कहाव गयो । सुनि कै तिनहूं दुष मानि कह्यो ॥
हम का करिबै अस बालक लै । जेहि पालै जो तासु करै सोइ छै ॥
जनमेउ सुत मोर अभागो मही । सो जिये वा मरै मोहि सोच नही ॥

दो०—बेनी पूरब जनम कर, करमबिपाक प्रचंड ।
बिना भोगाये टरत नहिं, यह सिद्धान्त अषंड ॥ ६ ॥

छं०—सिद्धांत अटल अषंड भरि ब्रह्मंड ब्यापित सत जथा ।
जहं मुनि बरन की यह दसा तहं पामरन की का कथा ॥
निज छति बिचारि न राष कोऊ दया दग पाछे दियो ।
डोलत सो बालक द्वार द्वार बिलोकि तेहि बिहरत हियो ॥ २ ॥

सो०—बालक दसा निहारि, गौरा माई जगजननि ।
द्विज तिय रूप संवारि, नितहिं पवाजावहि असन ॥ ३ ॥

दुइ बत्सर बीतेउ याहि रसे । पुर लोगन कौतुक देषि कसे ॥
जिन जोह जसूस पै आय जकै । परिचय द्विज नारि न पाइ थकै ॥
चर नारि हती तहं सो परषी । जब माय पबाय लला टरषी ॥
परि पाय करी हठ जान न दे । जगदंब अदस्य भई तब ते ॥
सिव जानि प्रिया ब्रत हेतु हियो । जन लौकिक सुलभ उपाय कियो ॥
प्रिय सिष्य अनंतानंद हते । नरहर्य्यानंद सुनाम छते ॥
बसे रामसुसैल कुटी करिके । तल्लीन दसा अति प्रिय हरि के ॥
तिन कंह भव दरसन आपु दिये । उपदेसहुं दै कृतकृत्य किये ॥
प्रिय मानस रामचरित्र कहे । पठये तंह जंह द्विजपुत्र रहे ॥

दो०—लै बालक गवनहु अवध, बिधिवत मंत्र सुनाय।
मम भाषित रघुपति कथा, ताहि प्रबोधहु जाय॥ ७॥
जब उघरहिं अंतर दृगनि, तब सो कहिहि बनाय।
लरिकाई को पैरिबो, आगे होत सहाय॥ ८॥

सो०—संभु वचन गंभीर, सुनि मुनि अति पुलकित भये।
सुमिरि राम रघुबीर, तुरत चले हरिपुर तके॥ ४॥

पुर हेरि के बालक गोद लिये। द्विजपुत्र अनाथ सनाथ किये॥
कह्यो रामबोला जनि सोच करै। पलिहैं पोसिहैं सब भाति हरै॥
सो तो जानेउ दीनदयाल हरी। मम हेतु सुसंत को रूप धरी॥
पुरलोगन केर रजाय लिये। सह बालक संत पयान किये॥
पहुंचे जब औधपुरी नगरे। बिचरे पुरबीथिन मां सगरे॥
पन्द्रह सै इकसठ माघ सुदी। तिथि पंचमि औ भृगुवार उदी॥
सरजू-तट बिप्रन जग्य किये। द्विजबालक कंह उपवीत दिये॥
सिषये बिनु आपुइ सो बरुआ। द्विजमंत्र सबित्रि सुउच्चरुआ॥
बिस्मयजुत पंडित लोग भये। कहे देषत बालक बिग्य ठये॥

दो०—नरहरि स्वामी तब किये, संस्कार बिधि पांच।
राममंत्र दिय जेहि छुटै, चौरासी को नांच॥ ९॥

दस मास रहे मुनिराज तहां। हनुमान सुटीला बिराज जहां॥
निज सिष्यहिं बिद्या पढाय रहे। अरु पानिनि-सूत्र घोषाय रहे॥
लघु बालक धारनशक्ति जगी। अनुरक्ति सभक्ति दिखान लगी॥
हरषे गुनग्राम बिचार हिये। पद चापत आसिष भूरि दिये॥
जबते जनमेउ तबते अबलों। निज दीन दसा कहिगो गुरुसों॥

ठक से रहिगे सुनि बाल कथा । करुना उरमें उपजाइ व्यथा ॥
मुनि धीर भरे दृग नीर रहे । गुरु सिष्य दसा कवि कौन कहे ॥
समुझाय बुझाय लगाय हिये । कहि भाँति भलाइ प्रसांत किये ॥
हरिप्रिय रितु लाग हेमंत जबै । सिष संग लै कीन्ह पयान तबै ॥

दो०—कहत कथा इतिहास बहु, आये सूकरषेत ।
संगम सरजू घाघरा, संत जनन सुष देत ॥ १० ॥

तंहवां पुनि पांचइ वर्ष बसे । तपमें जपमें सब भाति रसे ॥
जब सिष्य सुबोध भयो पढि कै । मति जुक्ति प्रबीन भई गढि कै ॥
सुधि आइ महेस सिषावन की । परतत्त्व प्रबंध सुनावन की ॥
तब मानस रामचरित्र कहे । सुनि कै मुनिबालक तत्त्व गहे ॥
पुनि पुनि मुनि ताहि सुनावत भे । अति गूढ कथा समुझावत भे ॥
यहि भांति प्रबोध मुनीस भले । बसुपर्व लगे सह सिष्य चले ॥
बिस्राम अनेक किये मग में । जल अन्न को षेल मच्यो जग में ॥
कतहूं सुकृतिन उपदेश करैं । कतहूं दुपिया दुषदाप हरैं ॥

दो०—बिचरत बिहरत मुदित मन, पहुंचे कासी धाम ।
परम गुरू सुस्थान पर, जाय कीन्ह बिस्राम ॥ ११ ॥

सुठि घाट मनोहर पंच पगा । गंगिया कर कौतुक केलि झगा ॥
पुनि सिद्ध सुपृष्ठ प्रतिष्ठित सो । बहुकाल जतींद्र रहे सु नमो ॥
तंहवां हते सेप सनातन जू । बपुवृद्ध बरंच जुवा मन जू ॥
निगमागम पारग ज्योति फबै । मुनि सिद्ध तपोधन जान सबै ॥
तिन रीझि गये बटु पै जब ही । गुरु स्वामि सों सुंदर बात कही ॥
निज सिष्यहिं देइय मोहिं मुनी । तिसु वृत्ति दुनी नहिं ध्यान घुनी ॥

हौं ताहि पढाउब वेद चहूं । अरु आगम दरसन पात छहूं ॥
इतिहास पुरानरु काव्यकला । अनुभूत अलभ्य प्रतीक फला ॥
विद्वान महान वनाउब जू । सुनि आपु महासुष पाउब जू ॥
दो०—आचारज विनती सुनत, पुलकित भे मुनिधीर ।
बटु बुलाय सौंपत भये, पावन गंगातीर ॥ १२ ॥
कछु दिन रहिगे जति प्रवर, पढ़न लगो बटु भास ।
चित्रकूट कंह तब गये, लषि सब भाति सुपास ॥ १३ ॥
बटु पंद्रह वर्ष तहा रहिकै । पढि सास्त्र सबै महिकै गहिकै ॥
करिकै गुरु-सेवा सदय तन तै । गत देह क्रिया करि सौ मन तै ॥
चले जनमथलीको बिषाद भरे । पहुंचे रजियापुरके बगरे ॥
निज भौन बिलोकेउ ढूह ढहा । कोउ जोवन जोग न लोग रहा ॥
इक भाट बषानेउ ग्राम-कथा । द्विजबंसको नास भयो जु जथा ॥
कह्यौ जा दिन नाइ से राजगुरू । तब त्याग की बोलेउ बात करू ॥
तंह बैठ रह्यो तप तेज धनी । तिन साप दियो गहि नागफनी ॥
षट मास के भीतर राजगुरू । दस वर्ष के भीतर बंस मरू ॥
सुनिकै तुलसी मन सोक छये । करि स्राद्ध जथाविधि पिंड दये ॥
दो०—पुरलोगन अनुरोधते, दियो भवन बनवाय ।
रहन लगे अरु कहत भे, रघुपति-कथा सुहाय ॥ १४ ॥
जमुना पर तीरमों तारिपतो । भरद्वाज सुगोत को विप्र हतो ॥
कतिकी दुतिया कर न्हान लगे । सकुटुम्ब सो आयउ संग सगे ॥
करि मज्जन दान गये तंहवां । हुलसी-सुत बाच कथा जंहवां ॥
छबि व्यास बिलोकि प्रसन्न भये । सब लोगन वूझि स्वठाम गये ॥
पुनि माधव मास में आय रहे । कर जोरि के सुंदर वात कहे ॥

महराति जबै नगिचाय रही। सपने जगदंब चेताय रही॥
सुभ राउर नांव बताय रही। सब ठांव ठिकान जताय रही॥
हौं हेरत हेरत आयो इतै। मोहिं राषिय हौं अब जाब कितै॥

दो०—सुनत बिनय सोचन लगे, पुनि बोले सकुचाय।
ब्याह बरेषी ना चहौं, अनत पधारिय पाय॥ १५॥

द्विज मानै नहीं धरना धरिकै। नहिं षाय पियै ससना करिकै॥
दुसरे दिन जब स्वीकार कियो। तब बिप्र हठी जल अन्न लियो॥
घर जाय सोधाय के लग्न धरो। उपरोहित भेजि प्रसस्त कियो॥
इतते पुरलोगन जोग दिये। सब साज समान बरात किये॥
पंद्रह से पार तिरासि बिषै। सुभ जेठ सुदी गुरु तेरस पै॥
अधिराति लगै जु फिरी भंवरी। दुलहा दुलही की परी पंवरी॥
ललना मिलि कोहबर मांहि रसीं। बरनायक पंडित सो बिहंसीं॥
तिसरे दिन मांडवचार भयो। सुचि भगति सो दान दहेज दयो॥

दो०—बिदा करा दुलही चले, पंडितराज महान।
आये निज पुर अरु किये, लोकाचार बिधान॥ १६॥

पुर नारि जुरीं गुरु भौन गईं। दुलही मुष देषि निहाल भईं॥
तुलसी सुत देषेउ नारि छटा। मुख इंदु ते घूंघट कोर हटा॥
मन प्रान प्रियापर वार दिये। जस कौसिक मेनका देषि भये॥
दिन रात सदा रंग राते रहैं। सुष पाते रहैं ललचाते रहैं॥
सर वर्ष पुरस्मर चाव चये। पल ज्यों रसकेलि में बीत गये॥
नहिं जाने दें आपु न जांय कहीं। पल एक प्रिया बिनु चैन नहीं॥
दुषिया जननी मुष देषनको। पितु ग्राम सुआसिनि पेषनको॥

सह बंधु गई चुपके सो सती । बरषासन ग्राम हते जु पती ॥
जब सांझ समय निज गेह गये । घर सून निहारि ससोच भये ॥
तब दासि जनायउ सौ करिकै । निज बंधु के संग गईं मैकै ॥
सुनते उठि कै ससुरारि चले । अति प्रेम प्रगाढ बिसेष पले ॥
कौनिउ बिधि ते सरि पार किये । पहुँचे सब सोवत द्वार दिये ॥

छं०—दै द्वार सोवहिं लोग नींद तुराइ गोहरावन लगै ।
स्वर चीन्हि द्वार कपाट षोली झमकि भामिनि सगबगै॥
बोली बिहंसि बानी बिमल उपदेस सानी कामिनी ।
कस बस चले प्रेमांध ज्यों नहिं सुधि अंधेरी जामिनी ॥ ३ ॥

दो०—हाड़ मास को देह मम, तापर जितनी प्रीति ।
तिसु आधो जो रामप्रति, अवसि मिटिहि भवभीति ॥ १७ ॥

सो०—लाग वचन जिमि बान, तुरत फिरे बिरमे न छिन ।
सोचेउ निज कल्यान, तब चित चढेउ जो गुरु कहेउ॥ ५ ॥

दो०—नरहरि कंचन कामिनी, रहिये इनते दूर ।
जौ चाहिय कल्यान निज, राम दरस भरपूर ॥ १८ ॥

उठि दौरि मनावन सार गयो । पिछुआये रह्यौ जब भोर भयो ॥
नहिं फेरे फिरे फिरि आयो घरे । भगिनी निज मूर्छित देष्यो परे ॥
मुर्छा जु हटी उठि बोली सती । पिय को उपदेसन आइ हती ॥
पिय मोर पयान कियो बन को । हौं प्रान पठाउं तजौं तनु को ॥
कहिकै अस सो निज देह तजी । सुरलोक गई पतिधर्मध्वजी ॥
सत पंद्रह जुक्त नवासि सरे । सुअसाढ वदी दसमीहुं परे ॥
बुध बासर धन्य सो धन्य घरी । उपदेसि सती तनु त्याग करी ॥

भयो भोर कहैं कोउ सिद्ध मुनी। परमारथबिंदक तत्त्व गुनी ॥
द्विजगेह में सारद देह धरी। रति रंग रमा रस राग हरी ॥

दो०—कोउ कह तिय की मुषनि ते, बोलेउ श्रीभगवान।
मोह निवारेउ भगत कर, साहिब सीलनिधान ॥ १९ ॥

हुलसीसुत तीरथराज गये। अरु मंजि त्रिबेनि कृतार्थ भये ॥
गृहिबेष बिसर्जन कीन्ह तहां। मुनिबेष संवारि चले फफहां ॥
गढ़ हेलि रु धेनुमती तमसा। पहुंचे रघुबीरपुरी सहसा ॥
तहवां चौमासक लौं बसिकै। प्रिय संत अनंत बिभू रसिकै ॥
चले बेगि पुरी कंह धाम महा। बिस्राम पचीसक बीच रहा ॥
तिनमां दुइ ठाम प्रधान गुनो। बरदान रु साप की बात सुनो ॥
घरि चारि दुबौलिमें बास किये। हरिराम कुमारहिं साप दिये ॥
सो प्रसिद्ध सुप्रेत भयो तेहिते। हरिदरसन आपु लख्यो जेहिते ॥
पुनि चारु कुंवरि वरदान दियो। जिन संत सुसेवा लियो रु कियो ॥

दो०—जगन्नाथ सुषधाम मे, कछुक दिना करि बास।
लिषे वाल्मीकी स्वकर, जब नब लहि अवकास ॥ २० ॥

रामेस्वर कंह कीन्ह पयाना। तंहते द्वारावति जग जाना ॥
बहुरि तहां ते चलि हरपाई। बदरी धामहिं पहुंचे जाई ॥
नारायन रिषि व्यास सोहाये। दरस दिये मानस गुन गाये ॥
तहं ते अति दुर्गम पथ लयऊ। मानसरोवर कंह चलि गयऊ ॥
जिय को लोभ तजै जो कोई। सो तंह जाइ कृतारथ होई ॥
तंह करि दिव्य संत सत्संगा। जाते होवै भवरस भंगा ॥
दिव्य सहाय पाय मुनिराई। जात रुपाचल देषे जाई ॥

नीलाचल कर दरसन कीन्हे । परम सुजान भुसुंडिहि चीन्हे ॥
लौटि सरोवर पै पुनि आये । गिरि कैलास प्रदच्छिन लाये ॥

दो०—इमि करि तीर्थाटन सफल, निवसे भवबन जाय ।
चौदह बरिस रु मास दस, सतरह दिवस बिताय ॥ २१ ॥

टिकिके तंह चातुरमास किये । नित रामकथा कहि हर्ष हिये ॥
बनवासि सुसंत सुनैं नित सो । सुनि होंहिं अनंदित ते चित सो ॥
बन मां इक पिप्पल रूष हतो । तिसु ऊपर प्रेत निवास छतो ॥
जल शौच गिरावहिं तासु तरे । सोइ पानिय प्रेत पियास हरे ॥
जब जानेउ सो कि अहै मुनि ये । जिन बालपने मोहि साप दिये ॥
तब एक दिना सो प्रतच्छ कह्यो । कहिये सो करौं जस भाव अह्यो ॥
तुलसीसुत बोलेउ मोरे मना । रघुनंदन दरसन को चहना ॥
सुनि प्रेत कह्यौ जु कथा सुनिबै । नित आवत अंजनिपूत अजै ॥
सबते प्रथमै सो तो आवहिं जू । सब लोगन पाछे सो जावहिं जू ॥

सो०—वेष अमंगल धारि, कुष्ठी को तनु जानि यहि ।
अवसर नीक बिचारि, चरन गहिय हठ ठानि यहि ॥ ६ ॥

छं०—हठ ठानि तेहि पहिचानि मुनिवर विनय बहु बिधि भाषेऊ ।
पद गहि न छाड़ेउ पवनसुत कह कहहु जो अभिलाषेऊ ॥
रघुबीर दरसन मोहिं कराइय मुनि कहेहु गदगद वचन ।
तुम जाइ सेवहु चित्रकूट तहां दरस पैहहु चपन ॥४॥

दो०—श्रीहनुमंत प्रसंग यह, विमल चरित विस्तार ।
लहेउ गोसाईं दरस रस, विदित सकल संसार ॥ २२ ॥

चित चेति चले चितकूट चितय । मन माहिं मनोरथ को उपचय ॥
जब सोचहिं आपन मंद कृती । पग पाछ पड़ै जु रहै न धृती ॥
सुधि आवत राम स्वभाव जबै । तब धावत मारग आतुर ह्वै ॥
यहि भांति गोसाइं तहां पहुंचै । किय आसन राम सुघाटहि पै ॥
इक बार प्रदच्छिन देन गये । तंह देषत रूप अनूप भये ॥
जुग राजकुमार सु अस्व चढ़े । मृगया बन षेलन जात कढ़े ॥
छबि सो लषि कै मन मोहेउ पै । अस को तनुधारि न जानि सकै ॥
हनुमंत बतायउ भेद सबै । पछिताइ रहे ललचाइल ह्वै ॥
तब धीरज दीन्हेउ बायुतनय । पुनि होइहि दरसन प्रात समय ॥

दो०—सुषद अमावस मौनिया, बुध सोरह सै सात ।
जा बैठै तिसु घाट पै, बिरही होतहि प्रात ॥ २३ ॥

सो०—प्रगटे राम सुजान, कहेउ देहु बाबा मलय ।
सुक बपु धरि हनुमान, पढ़ेउ चेतावनि दोहरा ॥ ७ ॥

दो०—चित्रकूट के घाट पै, भइ संतन की भीर ।
तुलसिदास चंदन घिसैं, तिलक देत रघुबीर ॥ २४ ॥

छं०—रघुबीर छबि निरषन लगे बिसरी सबै सुधि देह की ।
को घिसै चंदन दृगन तैं बहि चली सरित सनेह की ॥
प्रभु कहेउ पुनि सो नाहिं चेतेउ स्वकर चंदन लै लिये ।
दै तिलक रुचिर ललाट पै निज रूप अंतरहित किये ॥ ५ ॥

दो०—बिरह व्यथा तलफत पडे, मगन ध्यान इकतार ।
रैन जगाये बायुसुत, दीन्हे दसा सुधार ॥ २५ ॥

सुक पाठ पढ़ावत नारि नरा । करतल पर लै सुक को पिंजरा ॥
हुलसीसुत भक्ति महा महिमा । ततकालहिं छाय रही महि मां ॥
दिन एक प्रदच्छिन कामद दै । पहुँचे सौमित्र पहाडिहिं पै ॥
तंह स्वेतक सर्प पड़यो मग मे । सित गात मनोहर या जग मे ॥
तिसु ओर बिलोकि गोसाइं कहै । चंद्रोपम सुंदर नाग अहै ॥
हरि सृष्टि बिचित्र कहै न बनै । निगमागम सारद सेप भनै ॥
रिषि दृष्टि पड़ै तिसु पाप गयो । तब पन्नग ग्यानि ललात भयो ॥
मोहि छूइ कै तारिय नाथ अबै । छुअतेहि गयो सो भुजंग अथै ॥
योगश्रि मुनी तहं छीत भये । निज पूर्व कथा कहि बास लये ॥

दो०—यह प्रभाव मुनिनाथ कर, सुनि गुनि संत सुजान ।
आवन लागे दरस हित, भीर भयो रिषिथान ॥ २६ ॥

बड़ि भीर निहारि गुफा में ढुके । बहिरंतर हानि बिचारि लुके ॥
मुनि आवहि जोगि तपी रु जती । बिनु दरसन जाहिं निरास अती ॥
दरियानद स्वामिहुं आय रहे । निज आसन टेकि जमाय रहे ॥
लघुसंका के हेतु गोसाइं कढ़े । कर जोरि सो स्वामि भये जु ठढ़े ॥
कहे नाथ है होत अनीति बडी । छमिये कहिबो मम बात कडी ॥
लघुसंका लगे बहिरात हैं जू । सुनि साधु गिरा छिपि जात हैं जू ॥
दुष पावत सज्जन हैं तेहि ते । बिनती हौं करौ सुनिये यहि ते ॥
हौं देत मचान बंधाय अबै । तेहि ऊपर आसन नाथ फबै ॥
करि दरसन होब निहाल सबै । सुठि संत समागम होइ जबै ॥

दो०—बिनती दरियानंद की, मानि सजाय मचान ।
बैठत दिन भर लहत सुष, साधक सिद्ध सुजान ॥ २७ ॥

नित नव सत्संग उमाह बढ़ै । सुचि संत हृदय रसरंग चढ़ै ॥
नित नित्य बिहारहुं देषत हैं । मृगया कर कौतुक पेषत हैं ॥
वृंदावन ते हरिवंस हित् । प्रियदास नवल निज सिष्य भृत् ॥
पठये तिन आइ जोहार किये । गुरुदत्त सुपोथि सप्रेम दिये ॥
जमुनाष्टक राधासुधानिधि जू । अरु राधिकातंत्र महा विधि जू ॥
अरु पाति दई हितहाथ लिषी । सोरह सै नव जन्माष्टमि की ॥
तेहि माहिं लिषी बिनती बहुरी । सोइ बात सुपागर सो कहुरी ॥
रजनी महरास की आवत जू । चित मोर सदय ललचावत जू ॥
रसिकै रस मों तनुत्याग चहौं । मोहि आसिष देइय कुंज लहौं ॥

सो०—सुनि बिनती मुनिनाथ, एवमस्तु इति भाषेउ ।
तनु तजि भये सनाथ, नित्य निकुंज प्रवेस करि ॥ ८ ॥

दो०—संडीला ते आय कै, बसु स्वामी नंदलाल ।
पढे रामरच्छा विवृति, जो भक्तन को ढाल ॥ २८ ॥

षट मास रहै सतसंग लहै । चलती बिरियां कछु चिह्न चहै ॥
दियो सालग्राम की मूर्ति भली । निज हस्त लिखित कवच औ कमली ॥
इमि जादव माधव बेनि उभय । चितसुष करुनेस अनंद सदय ॥
तपसी सुमुरारि उदार जती । बिरही भगवंत सभागवती ॥
बिभवानंद देव दिनेस मिले । अरु दच्छिन देस के स्वामि पिले ॥
सब रंग रंगे सतसंग पगे । अहमादि कुनींद सुपुप्त जगे ॥
कहे धन्य गोसाइं जु जन्म लये । लहि दरसन हौं कृतकृत्य भये ॥
दृग नीर ढरैं नहिं बोल सरैं । सब जाहिं सप्रेम प्रमोद भरे ॥
वसु संवत साधु समागम मों । कटिगो नहिं जानि परयो किमि धौं ॥

दो०—सोरह सै सोरह लगै, कामद गिरि ढिग बास।
सुचि एकान्त प्रदेस महं, आये सूर सुदास ॥ २९ ॥
पठये गोकुलनाथ जी, कृष्ण रंग मे बोरि।
दृग फेरत चित चातुरी, लीन्ह गोसाईं छोरि ॥ ३० ॥

कबि सूर दिषायउ सागर को। सुचि प्रेम कथा नट नागर को ॥
पद द्वय पुनि गाय सुनाय रहे। पदपंकज पै सिर नाय कहे ॥
अस आसिष देइय स्याम ढरैं। यहि कीरति मोरि दिगंत चरैं ॥
सुनि कोमल बैन सुदादि दिये। पद पोथि उठाय लगाये हिये ॥
कहै स्याम सदा रस चाषत हैं। रुचि सेवक की हरि राषत हैं ॥
तनिको नहिं संसय है यहि मां। स्तुति सेष बषानत हैं महिमा ॥
दिन सात रहे सतसंग पगै। पदकंज गहे जब जान लगै ॥
गहि बांह गोसाइं प्रबोध किये। पुनि गोकुलनाथ को पत्र दिये ॥
लै पाति गये जब सूर कबी। उर में पधराय के स्याम छबी ॥

दो०—तब आयो मेवाड़ ते, बिप्र नाम सुखपाल।
मीरा बाई पत्रिका, लायो प्रेम प्रवाल ॥ ३१ ॥
पढ़ि पाती उत्तर लिषे, गीत कवित्त वनाय।
सब तजि हरि भजिबो भलो, कहि दिय विप्र पठाय ॥ ३२ ॥

तड़के इक बालक आन लग्यो। सुठि सुंदर कंठ सो गान लग्यो ॥
तिसु गान पै रीझि गोसाईं गये। लिषि दीन्ह तबै पद चारि नये ॥
करि कंठ सुनायउ दूजे दिना। अडि जाय सो नूतन गान विना ॥
सिसु याहि बनावन गीत लगे। उर भीतर सुंदर भाव जगे ॥
जब सोरह सै बसु बीस चढ्यो। पद जोरि सबै सुचि ग्रंथ गढ्यो ॥

तेहि रामगीतावलि नाम धरयो । अरु कृष्णगीतावलि रॉचि सरयो ॥
दोउ ग्रंथ सुधारि लिषै रुचि सो । हनुमंतहिं दीन्ह सुनाय जिसो ॥
तब मारुति ह्वै कै प्रसन्न कह्यो । करि प्यान अवधपुर जाइ रह्यो ॥
इमि इष्ट को आयसु पाइ चले । बिरमे सुठि तीरथराज थले ॥

दो०—तेहि अवसर उत्तम परब, लागो मकर नहान ।
जोगी तपी जती सती, जुरैं सयान अजान ॥ २३ ॥

तेहि पर्व ते पाछे गये दिन छै । बट छांह तरे जु लष्यो मुनि द्वै ॥
तपपुंज दोऊ मुष काति तपै । छबि छाम छपाकर छंद छपै ॥
करि दंडप्रनाम सुदूरहि ते । करजोरि कै ठाढ भये तहि ते ॥
मुनि सैन सों एक हंकारि लियो । अपने ढिग आसन चारु दियो ॥
तेहि टारि कै भूमि मे बैठि गये । परिचय निज दै परिचाय लये ॥
सोइ रामकथा तंह होत रह्यो । गुरु सूकरषेत में जौन कह्यो ॥
बिसमयजुत बुझेउ गुप्त मता । कहि जागबलिक मुनि दीन्ह बता ॥
हर रंचि भवानिहि दीन्ह सोई । पुनि दीन्ह भुसुडिहिं तत्त गोई ॥
हौं जाइ भुसुंडि ते ताहि लहेउं । भरद्वाज मुनी प्रति आइ कहेउं ॥

दो०—यहि बिधि मुनि परितोष लहि, पद गहि पाय प्रसाद ।
सुनै जुगल मुनिवर्ज कर, तहां विमल संवाद ॥ २४ ॥

तेहि ठांव गये जब दूजे दिना । थल मून निहारु मुनीस बिना ॥
वट छाह न सो नहिं पर्नकुटी । मन बिसमय बाढेउ मर्म पुटी ॥
उर राषि उभय मुनि सील चले । हरि प्रेरित कासि की ओर ढले ॥
कछु दूरि गये सुधि आइ जबै । मन सोचत का करिये जु अबै ॥
जो भयो सो भयो अब याहि सबै । हर दरसन कै चलिहौं अबधैं ॥

मन ठीक किये मग आगु बढे । चलि कै पुनि सुरसरि तीर कढ़े ॥
तब तीरहि तीर चले चित दै । भइ सांझ जहां सो तहां टिकिगै ॥
दिग वारि पुरा बिच सीतामढ़ी । तंह आसन डारत बृत्ति चढ़ी ॥
नहिं भूष न नींद बिछिप्त दसा । उर पूरब जनम प्रसंग बसा ॥

दो०—सीताबटतर तीन दिन, बसि सुकबित्त बनाय ।
बंदि छोडावत बिंध नृप, पहुंचे कासी जाय ॥ ३५ ॥

भगत सिरोमनि घाट पै, बिप्रगेह करि बास ।
राम बिमल जस कहि चले, उपज्यो हृदय हुलास ॥ ३६ ॥

दिन मां जितनी रचना रचते । निसि माहि सुसंचित ना बचते ॥
यह लोपक्रिया प्रति द्यौस सरै । करिये सो कहा नहिं बूझि परै ॥
अठवें दिन संभु दिये सपना । निज बोलि मे काव्य करो अपना ॥
उचटी निंदिया उठि बैठु मुनी । उर गूंजि रह्यो सपनेकी धुनी ॥
प्रगटे सिव संग भवानि लिये । मुनि आठहु अग प्रणाम किये ॥
सिव भाषेउ भाषा में काव्य रचो । सुरबानि के पीछे न तात पचो ॥
सब कर हित होइ सोई करिये । अरु पूर्ब प्रथा मत आचरिये ॥
तुम जाइ अवधपुर बास करो । तंहई निज काव्य प्रकास करो ॥
मम पुन्य प्रसाद सों काव्यकला । होइहै सम साम रिचा सफला ॥

सो०—कहि अस संभु भवानि, अतरधान भये तुरत ।
आपन भाग्य बषानि, चले गोसाईं अवधपुर ॥ ९ ॥

दो०—जेहि दिन साहि सभान में, उदय लह्यो सनमान ।
तेहि दिन पहुचे अवध में, श्रीगोसाइ भगवान ॥ ३७ ॥

सरजू करि मज्जन गव दिन मे । बिचरे पुलि नारन बीथिन में ॥
एक सत मिले कहने सो लगे । थल रम्य लखैं महबीरी लगे ॥
लै संग सो ठाम दिषायो भले । बट की बिटपावलि पुन्य थले ॥
तिन मां बट एक बिसाल थही । तिसु मूल मे बेदिका सोहि रही ॥
तिसु ऊपर बैठु सिधासन से । एक सिद्ध प्रसिद्ध हुतासन से ॥
थल देषि लोभायो गोसाइं मना । बसिये यहि ठाव कुटीर बना ॥
जब सिद्ध के सन्निधि मों गुदरे । तजि आसन सो जय जय उचरे ॥
सो कह्यो गुरु मोर निदेस दियो । तेहि कारन हौं यह बास लियो ॥
गुरु मोर बतायउ मरम सबै । सो तो देषत हौं परतच्छ अबै ॥

कु०—मम गुरु कहेउ कि करहि किन सिद्ध पृष्ठ थल बास ।
कछु दिन बीते कहहिगे हरिजस तुलसीदास ॥
हरिजस तुलसीदास कहहिंगे यहि थल आई ।
आदि कबी अवतार बायुनंदन बल पाई ॥
राजराज बट रोपि दियो मरजाद समुत्तम ।
बसि यहं ठाहर ठाटु मानि अति हित सासन मम ॥ १ ॥

सो०—जब ऐहैं यहि ठाम, हुलसीसुत तिसु हेतु हित ।
सौपि कुटी आराम, तन तजि ऐहहु मम निकट ॥ १० ॥

उपदेस गुरू मोहि नीक लग्यो । बहु जनम पुरातन पुन्य जग्यो ॥
वसिकै रसिकै तपिकै चौरी । हौं जोहत बाट रहेउ रौरी ॥
अब राजिय गाजिय नाथ यहां । हौं जाब वसे गुरु मोर जहां ॥
कहिके अस वेदिका ते उतर्यो । सिर नाइ सिधारेउ दूरि पर्यो ॥
तंह आसन मारिकै ध्यान धर्यो । तिसु जोग हुतासन गात जर्यो ॥

यह कौतुक देषि गोसाइं कहै । धनुधारि ! तेरी बलिहारि अहै ॥
निबसे तंह सौष्य सुपास लहे । दृढ़ संजम जो मम जोग गहे ॥
पय पान करैं सोउ एक समय । रघुबीर भरोस न काहुक भय ॥
जुग बत्सर बीत न बृत्ति डगो । इकतीस को संबत आई लगो ॥

दो०—रामजनम तिथि बार सब, जस त्रेता मंह भास ।
तस इकतीसा महं जुरो, जोग लग्न ग्रह रास ॥ ३८ ॥
नवमी मंगलवार सुभ, प्रात समय हनुमान ।
प्रगटि प्रथम अभिषेक किय, करन जगत कल्यान ॥ ३९ ॥
हर, गौरी, गनपति, गिरा, नारद, सेष सुजान ।
मंगलमय आसिष दिये, रबि, कबि, गुरु गिरबान ॥ ४० ॥

सो०—यहि बिधि भा आरंभ, रामचरितमानस विमल ।
सुनत मिटत मद दंभ, कामादिक संसय सकल ॥ ११ ॥

दुइ बत्सर साते क मास परे । दिन छब्बिस मांझ सो पूर करे ॥
तैंतीस को संबत औ मगसर । सुभ द्यौस सुराम विवाहहि पर ॥
सुठि सप्त जहाज तयार भयो । भवसागर पार उतारन को ॥
पाषंड प्रपंच बहावन को । सुचि सात्त्विक धर्मचलावन को ॥
कलि पाप कलाप नसावन को । हरि भगति छटा दरसावन को ॥
मत बाद बिबाद मिटावन को । अरु प्रेम को पाठ पढावन को ॥
संतन चित चाव चढ़ावन को । सज्जन उर मोद वढावन को ॥
हरिरस हर बस समुझावन को । स्रुति संमत मार्ग सुझावन को ॥
सुत सप्त सोपान समास भयो । सदग्रंथ बन्यो सुप्रबन्ध नयो ॥

दो०—महिसुत बासर मध्य दिन, सुभ मिति तत्सत कूल ।
सुर समूह जय जय किये, हरषित बरषे फूल ॥ ४१ ॥
जेहि छिन यह आरंभ भो, तेहि छिन पूरेउ पूर ।
निरबल मानव लेषनी, षींचि लियो अति दूर ॥ ४२ ॥
पांच पात गनपति लिषे, दिव्य लेषनी चाल ।
सत, सिव, नाग, अरु द्यू, दिसप, लोक गये ततकाल ॥ ४३ ॥
सबके मानस में बसेउ, मानस रामचरित्र ।
बंदन रिषि कबि पद कमल, मन क्रम बचन पवित्र ॥ ४४ ॥
बदों तुलसी के चरन, जिन कीन्हों जग काज ।
कलि समुद्र बूड़त लष्यो, प्रगटेउ सत्त जहाज ॥ ४५ ॥
परम मधुर पावन करनि, चार पदारथ दानि ।
तुलसीकृत रघुपति कथा, कै सुरसरि रसषानि ॥ ४६ ॥

सो०—प्रगटे श्री हनुमान, अथ सों इति लौं सब सुनै ।
दिये सुभग बरदान, कीरति त्रिभुवन बस करी ॥ १२ ॥

मिथिला के सुसंत सुजान हते । मिथिलाधिप भाव पगे रहते ॥
सुचि नाम रुपारुन स्वामि जुतो । तेहि अवसर औध में आयो हुतो ॥
प्रथमै यह मानस तेई सुनै । तिनहीं अधिकारि गोसाइं गुनै ॥
स्वामि नंद सुलाल को सिष्य पुनी । तिसु नाम दलाल सुदास गुनी ॥
लिपि कै सोइ पोथि स्वठाम गयो । गुरु के ढिग जाय सुनाय दयो ॥
जमुना तट पै त्रय वत्सर लौं । रसषानहिं जाइ सुनावत भो ॥
तब ते बहु संष्यक पात लिषे । कछु लोगन औ निज हाथ रिषें ॥

मुकुतामनि दास जु आयो हतो । हरि सयन को गीत सुनायो हतो ॥
तिसु भावहि पै मुनि रीझि गये । पल मो पल भॉजत सिद्धि दये ॥

दो०—तब हरि अनुसासन लहे, पहुंचे कासी जाय ।
बिस्वनाथ जगदंब प्रति, पोथी दियो सुनाय ॥ ४७ ॥

छं०—पोथी पाठ समाप्त कैके धरे, सिवलिंग ढिग रात में ।
मूरष पंडित सिद्ध तापस जुरे, जब पट षुलेउ प्रात में ॥
देषिन तिरषित दृष्टि ते सब जने, कीन्ही सही संकरं ।
दिव्याषर सों लिष्यो पढ़े धुनि सुने, सत्यं सिवं सुंदरं ॥ ६ ॥

सिव की नगरी रस रंग भरी । यह लीला जु पाटि गई सगरी ॥
हरषे नर नारि जोहारि किये । जय जय धुनि बोलि बलैयां लिये ॥
पै पंडित लोगन सोच भयो । सब मान महातम जीव गयो ॥
पढ़िहैं यह पोथि प्रसादमई । तब पूछिहैं कौन हमे मनई ॥
दल बांधि ते निंदत बागत भे । सुर बानि सराहत पागत भे ॥
कोउ ग्रंथ चोराबन हेतु रचे । फरफंद अनेक प्रपंच पचे ॥
निघुआ सिषुआ जुग चोर गये । रषवार बिलोकि निहाल भये ॥
तेहि पूछे गोसाइं ते कौन धुही । जुग स्यामल गौर धरे धनुही ॥
सुनि बैन भरे जल नैन कहै । तुम धन्य हते हरि दरस लहै ॥

दो०—तजि कुकरम तसकर तरे, दिय सब बस्तु लुटाय ।
जाइ धरे टोडर सदन, पोथी जतन कराय ॥ ४८ ॥

पुनि दूसर पात लिष्यो रुचि सों । तेहिते लिपि पै लिपि होन लगो ॥
दिन दून प्रचार वढेव लषि कै । सब पंडित हारे हिया झषि कै ॥

दिन एक बसे मुनि हंसपुरा। परसी को सुहाग दिये बहुरा ॥
गउघाट में राउ गंभीर घरे। दुइ बासर लों तंहवां ठहरे ॥
ब्रह्मेस सुदरसन कैके चले। पुनि कांत ब्रह्मपुर मां निकले ॥
संवरू सुत मांगरु ग्वाल हतो। दुहि दूध दियो सुर साधु रतो ॥
बर दीन्ह तजे चोरहाई सहूं। निरबंस न होवहुगे कबहूं ॥
तब बेलापतार में आय रहे। तहं दास धनी निज कष्ट कहे ॥

छं०—कहे कष्ट आपन कालिह जाइहि प्रान मम पातक बयों।
मूसहिं षवायों भोग कहि कहि षात हरि सौंहैं कियो ॥
रघुनाथसिंह जानेउ दगा करि कोप सो बोलेउ सुने।
नहिं षाहिं ठाकुर सामुहे मम तोपि बध निस्चय गुने ॥ ८ ॥

सो०—मुनिबर धीरज दीन्ह, कियो रसोई साधु तब।
सन्मुख भोजन कीन्ह, ठाकुर लषि रिषि इमि कहेउ ॥ १४ ॥

दो०—तुलसी झूठे भगत को, पति राखत भगवान।
जिमि मूरष उपरोहितहिं, देत दान जजमान ॥ ५२ ॥

निज गेह पवित्र करावन को। लै गो मुनि को बर नायक सो ॥
तहँ भक्त सुगोबिंद मिस्र मिले। जिसु दृष्टि ते लोह घना पिघिले ॥
मुनि गांव के नांव में फेर करे। रघुनाथपुरा तिसु नाम धरे ॥
तंह ते चलिकै बिचरे बिचरे। रिपि हरिहर खेतमें जा पधरे ॥
पुनि सगम मंजि चले सपदी। नियराये बिदेहपुरी छपदी ॥
धरि बालिका रूप बिदेह लली। बहराय कै पीर पराय चली ॥
जब जानेउ मरम कहा कहिये। मन ही मन सोचि कृपा रहिये ॥

द्विज लोगन हाला के घेरि रहे। अरु आपन घोर बिपत्ति कहे॥
छत सूबा नवाब बड़ो रगरी। सो तो बारहो गांव की बृत्ति हरी॥

दो०—दया लागि कर्त्तव्य गुनि, सुमिरे बायुकुमार।
दंडित करि बहुरायउ, सुषजुत द्विज परिवार॥ ५३॥

मिथिला ते कासी गये, चालिस संबत लाग।
दोहावलि संग्रह किये, सहित बिमल अनुराग॥ ५४॥

लिषे बालमीकी बहुरि, इकतालिस के मांहि।
मगसर सुदि सतिमी रबौ, पाठ करन हित ताहि॥ ५५॥

माधव सित सिय जनम तिथि, ब्यालिस संबत बीच।
सतसैया बरनै लगै, प्रेम बारि ते सींच॥ ५६॥

सो०—उतरु सनीचरि मीन, मरी परी कासीपुरी।
लोगन ह्वै अति दीन, जाइ पुकारे रिषि निकट॥ १५॥
लागिय नाथ गोहार अपर बल कछु न बिसाता।
राषैं हरिके दास कि सिरजनहार बिधाता॥

दो०—करुनामय मुनि सुनि बिथा, तंत्र कबित्त बनाय।
करुनानिधि सों बिनय करि, दीन्ही मरी भगाय॥ ५७॥

कबि केसवदास बड़े रसिया। घनस्याम सुकुल नभ के बसिया॥
कबि जानि के दरसन हेतु गये। रहि बाहिर सूचन भेजि दिये॥
सुनिकै जु गोसाइं कहै इतनो। कबि प्राकृत केसव आवन दो॥
फिरिगे झट केसव सो सुनिकै। निज तुच्छता आपुइ ते गुनिकै॥
जब सेवक टेरेउ गे कहिकै। हौं भेंटिहौं कालिह बिनय गहिकै॥

घनस्याम रहै घासिराम रहै । बलभद्र रहै बिस्राम लहै ॥
रचि राम सुचंद्रिका रातिहि मे । जुरै केसव जू असि घाटिहि में ॥
सतसंग जमी रस रंग मची । दोउ प्राकृत दिव्य बिभूति षची ॥
मिटि केसव को संकोच गयो । उर भीतर प्रीति की रीति रयो ॥

दो०—आदिल साही राजके, भाजक दान बनेत ।
दत्तात्रेय सुबिप्रवर, आये रिषय निकेत ॥ ५८ ॥

करि पूजा आसिष लहै, मांगे पुन्य प्रसाद ।
लिषित बालमोकी स्वकर, दिये सहित अहलाद ॥ ५९ ॥

अमरनाथ जोगी तिया, हरि बैरागी लीन ।
ताते कोपि तिनहिं रहित, कंठी माला कीन ॥ ६० ॥

मच्यो कोलाहल साधु सब, आये मुनिबर पास ।
फेरि मिल्यो सो आसननि, रिषय कृपा अनयास ॥ ६१ ॥

आयो सिद्ध अघोरिया, अलख जगावत द्वार ।
छिन महँ सिद्धाई हरी, उपदेसेउ स्तुति सार ॥ ६२ ॥

निमिषार को बिप्र सुधर्मरता । बनपंडि सुनाम बिमोह गला ॥
सब तीरथ लुसहिं चाह्य थपै । तिसु हेतु सदासिव मंत्र जपै ॥
इक प्रेत धना ढिग ठाढ भयो । बहु द्रव्य गड़ो सो दिपाइ दयो ॥
सो कह्यो धन लै सुभ काज सरो । यहि जोनि ते मोर उधार करो ॥
मन हरषित बिप्र कह्यो मोहि कां । चौधाम घुमाय सुतीरथ मां ॥
तब कासि गुसाइं के तीर चलो । तिस दरसन होय तुम्हारो भलो ॥
सुष मानि कै तै सोइ प्रेत कियो । नभ मांहिं असी पर छेक छियो ॥

जन सोर मच्यो बहु लोग जुरे । सब कौतुक देपहिं अंग फुरे ॥
निज आस्रम ते कढि आयो मुनी । नभ ते भयो जयजयकार धुनी ॥

दो०—दिव्य रूप धरि जान चढि, प्रेत गयो हरिधाम ।
तुलसी दरस प्रताप ते, सोझ भयो ब्रिधि बाम ॥ ६३ ॥

बनषंडी महि पर गिरेउ, पग छुइ कियो प्रनाम ।
मुनि सन सब ब्यवरा कह्यो, बसेउ रसेउ तेहि ठाम ॥ ६४ ॥

तासु ब्रिनय बस मुनि चले, तीरथ थापन काज ।
पहुंचे अवधहिं पांच दिन, तहां टिके रिपिराज ॥ ६५ ॥

दै रामगीतावलि गायक को । जे गावहिं जस रघुनायक को ॥
मन बोध तिवारिहिं औध छटा । सब कंचन मय वन भूमि अटा ॥
देषरा के चले गैनाही टिके । पुनि सूकरषेत में जाय थिके ॥
सियावार सुगाव मे बास लिये । तंह सीता सुकूप को पाथ पिये ॥
पहुंचे लखनैपुर मोद भरे । अरु वेनुमती तट पै उतरे ॥
कहुं दीनन को प्रतिपाल करैं । कहुं साधुन के मन मोद भरैं ॥
कहुं लखनलाल को चरित बचैं । कहुं प्रेम मगन ह्वै आपु नचैं ॥
कहुं रामायन कल गान सचै । उत्साह कोलाहल भूरि मचैं ॥
कहुं आरत जन को ताप हरै । कहुं अग्यानिन उर ग्यान धरैं ॥

दो०—निरधन भाट दमोदरहिं, आसिष दै कवि कीन ।
लहेउ ब्रिपुल धन मान बहु, भा कविकला प्रवीन ॥ ६६ ॥

तहँ ते मलिहाबाद मे, आय संत सिरताज ।
रामायन निज कृत दिये, ब्रजवल्लभ भटराज ॥ ६७ ॥

पुनि अनन्य माधव मिले, कोटरा ग्रामहिं जाय ।
माता प्रति सिच्छा सुने, भगति दिये बतलाय ॥ ६८ ॥

पुनि जाय बिठूर में रैनि बसे । सरि मज्जत पांक में जाइ धसे ॥
गहि बांह निकारेउ जन्हुसुता । तन तायो जरा न रही जु बुता ॥
तंह ते चलि जाय संडीले परे । गौरीसंकर गृह माथ धरे ॥
कहे या घर में लीहै जनम पषा । मनसूषा स्वय श्रीकृष्न सषा ॥
कछु काल गये सोइ जन्म धर्‌यो । बंसीधर ताकर नाम पर्‌यो ॥
कबि भो मुनिवर उपदेस कियो । पद रास सुने तनु त्याग दियो ॥
तेहि ब्योम ब्रिमान पै जातलष्यो । हलवाई सुप्रसिद्ध प्रवीन मण्यो ॥
सतसंगिन देषि निहाल भये । उपदेस सनातन पूर लये ॥

दो०—सडीले ते मुनि चले, मग ठाकुर छितिपाल ।
नमन कियो नहि मद मतो, तुरत भयो कगाल ॥ ६९ ॥

सो०—बिप्रन किय अपमान, ताते ते निरधन भये ।
कैथन किय सनमान, सुपी भये धन ब्रंस लहि ॥ १६ ॥

दो०—जुरै जुलाहे भेंट धरि, लहै त्रिपुल धन धान्य ।
पहुंचे नैमिष वन मुनी, सर्व तंत्र सनमान्य ॥ ७० ॥

सोधि सकल तीरथ थपे, किय त्रय मास निवास ।
मिले पिहानी के सुकुल, संब्रत लगु उनचास ॥ ७१ ॥

षैरावाद को सिद्ध प्रवीन घरे । मुनि आपुइ जोग ते जाइ परे ॥
करि ताहि निहाल चले मिसरिष । संग में बनखंडि दुचारिक सिष ॥
पुनि नाव चढे सुख सों विचरे । पुर राम सुनै तुरतै उतरे ॥

नृप सेवक टंठा बेसाहि रहे । सब माल मता तजि राह गहे ॥
सिंहराम सुनो पग दौरि गह्यो । करिके सु बिनयपद टेकि रह्यो ॥
तब लौटि परे तिसु धाम बसे । हनुमंतहिं थापि तहां बिलसे ॥
बंसीबन नाम धर्‌यो बटरय । मगसर सुदि पचमी रास रचय ॥
बृंदाबन में तंह ते जु गये । सुठि राम सुघाट पै बास लये ॥
बड़ घूम मचो सुचि संत घुरे । मुनि दरसन को नर नारि जुरे ॥

दो०—स्वामी नाभा ढिग गये, ते किय बहु सनमान ।
उच्चासन पधराइ मुनि, पूजे सहित बिधान ॥ ७२ ॥
बिप्र संत नाभा सहित, हरि दरसन के हेत ।
गये गोसाईं मुदित मन, मोहन मदन निकेत ॥ ७३ ॥
राम उपासक जानि प्रभु, तुरत धरे धनुबान ।
दरसन दिये सनाथ किय, भगत बच्छल भगवान ॥ ७४ ॥

बरसाने में लीला सो ब्यापि गई । मुनि आसन पै बडि भीर भई ॥
कछु कृष्न उपासक द्वेष भरे । धनुबान धरे पर मोह सरे ॥
तिनको समुझाये सुतत्त्व महा । जन को प्रन राम न राष्यो कहा ॥
सुभ दच्छिन देस ते जात हतो । हरि मूरति अवधहिं थापन को ॥
बिस्राम भयो जमुनातट पै । लखि मूरति मोहे बिप्र उदय ॥
सो चहो हरि बिग्रह बाई थपै । बिनती किय जाइ गोसाइहिं पै ॥
न उठाये उठे जब सो प्रतिमा । तब थापित कीन्ह तहँ जिजिमां ॥
तिसु नाम कौसल्यानंदन जू । मुनिराज धरें जग बंदन जू ॥
नंददास कनौजिया प्रेम मढे । जिन सेष सनातन तीर पढे ॥
सिच्छा गुरु बंधु भये तेहिते । अति प्रेम सों आय मिले यहि ते ॥

दो०—हित सुत गोपीनाथ प्रति, महिमा अवध बषानि ।
जेहि नहिं ठांव ठिकान कहुं, तिनहिं बसावत आनि॥ ७५ ॥

फेरि अमनिया दिये पुनि, सषरा ताहि बताय ।
हलवाई बनिकन सदन, बालकृष्न दिषराय ॥ ७६ ॥

सो०—इमि लीला दरसाय, भगतन उर आनंद भरि ।
चित्रकूट मंह जाय, किये कछुक दिन बास तंह ॥ १७ ॥

सतकाम सुबिप्र गोसाईं लगे । दीच्छाहित आयो सुबृत्ति जगे ॥
लषि कामबिकार न सिष्य किये । टिकिगो तंह सो हठ ठानि हिये ॥
जब राति में रानि कदंब लता । आइ तासु बिलोकन सुंदरता ॥
तिन दीपक बाति बढ़ाइ लियो । लषिकै मुनि सुदर सीष दियो ॥
सो बिप्र लजाइ कै पाँय परयो । करिकै मुनि छोह बिकार हरयो ॥
पुनि बिप्र दरिद्र महा जलपा । मंदाकिनि डूबन हेतु चला ॥
तिसु प्रान बचावन हेतु रिषय । सुठि दारिद मोच सिला प्रगटय ॥
पुनि साहि षवास पठायउ जू । मुनिराजहिं दिल्ली बुलायउ जू ॥

दो०—चले जमुन तट नृप तिलक, साधु कियो सरनाम ।
राधाबल्लभ भगति दिय, रीझे स्यामा स्याम ॥ ७७ ॥

सो०—उडछे केसवदास, प्रेत हतौ वेरेउ मुनिहिं ।
उधरे बिनहि प्रयास, चढि बिमान स्वरगहि गयो ॥ १८ ॥

चरवारि के ठाकुर की दुहिता । जिसु सुंदरता पै जग मुहिता ॥
इक नारिहिं ते तिसु ब्याह भयो । जब जानेउ दारुन दाह भयो ॥
वर की जननी जनमावत हीं । सो प्रसिद्ध कियो तेहि पुत्र कहीं ॥

अनुकूलहिं साज समान कियो । जे जानत भे तिहि पूजि दियो ॥
यहि कारन धोषा भयो बहुतै । अब रोवत मींजत हाथ सबै ॥
तिन घेरे दया लगि संत हिये । तिसु हेतु नवाह्निक पाठ किये ॥
बिस्राम लगायो सो जानिय जू । तिसु सब्द प्रथम यह आनिय जू ॥
हिय,सत,अरु कीन्हरु स्याम लगा । औ राम सैल पुनि हार्र परा ॥
कह मारुतसुत, जहं तहं पुन्यं । इति पाठ नवाह्निक ठाम अयं ॥

दो०—नारी ते नर होइ गयो, करतहि पाठ बिराम ।
पुलकित जय तुलसी कहै, जय जय सीताराम ॥ ७८ ॥
तंह ते पंचयें दिन मुनी, पहुंचे दिल्ली जाय ।
षबरि पाय तुरतहिं नृपति, लिय दरबार बुलाय ॥ ७९ ॥
दिल्लीपति बिनती करी, दिषरावहु करमात ।
मुकरि गये बंदी किये, कीन्हे कपि उतपात ॥ ८० ॥
बेगम को पट फारेऊ, नगन भई सब बाम ।
हाहाकार मच्यो महल, पटको नृपहिं धड़ाम ॥ ८१ ॥
मुनिहि मुकुत ततछन किये, छमाऽपराध कराय ।
बिदा कीन्ह सनमान जुत, पीनस पै पधराय ॥ ८२ ॥

चलि दिल्ली ते आये महाबन में । निसि वास किये जु अहीरन में ॥
इक ग्वार भगोरथ पै ढुरिगे । तेहि सिद्ध सुसंत बनावत भे ॥
दसयें दिन औधहिं आय रहे । भरि पाष तहा सुसनाय रहे ॥
हरिदास सुभक्त सुगीत रयो । तेहि मां कछु सब्द असुद्ध भयो ॥
सुधराये मुनी पै न बोध भयो । तिसु कीर्त्तन मे अवरोध भयो ॥
सपने मुनि ते रघुबीर कह्यो । नहिं सुद्ध असुद्ध सुभाव गह्यो ॥

तब जाइ मुनी तिसु भाव भरो । जस गावत हौ तस गाया करो ॥
सुनि बालचरित्र अनंदित ह्वै । मुनि तुष्ट किये सुपटंबर दै ॥

दो०—देव मुरारी भेंट मिलि, सहित मलूकादास ।
पहुँचे कासी में रिषय, किये अषंड निवास ॥ ८३ ॥

सुचि माघ में गंग नहाय हते । सरि भीतर मंत्र महा जपते ॥
तन वृद्ध सो कांपत रोम अड़े । गनिका रहि देखत तीर षड़े ॥
कढ़िकै मुनि सीचेउ वस्त्र धरे । दुइ बुंद सोई गनिका पै परे ॥
बेस्या मन में निरबेद जगो । बहु दृस्य निरय दिषरान लगो ॥
सब पाप प्रपंच ते दूर भगी । उपदेस ले हरिगुन गान लगी ॥
हरिदत्त सु बिप्र दरिद्र महा । तिसु गंग के पार में बास रहा ॥
मुनि के ढिग आय बिपत्ति कही । जस दीन दसा घर केर रही ॥
रिषि अस्तुति गंग बनाय करी । सुरसरि दै भूमि बिपत्ति हरी ॥

दो०—निंदक मुनि अरु भगतिपथ, भुलई साहु कलार ।
निधन भयउ टिकठी धरे, लैगे फूंकनहार ॥ ८४ ॥
तास तिया रोवत चली, मुनि ढिग नायउ सीस ।
सदा सोहागिन रहहु तुम, मुनिवर दीन्ह असीस ॥ ८५ ॥
त्रिलषि कही सो निज दसा, सव मुनि लिये मँगाय ।
चरनामृत मुप देइकै, तुरतै दिये जियाय ॥ ८६ ॥

तेहि वासर ते मुनि नेम लिये । अरु बाहिर बैठब त्यागि दिये ॥
रहे तीन कुमार बडे सुकृती । मुनि चरनन में तिनकी भगती ॥
रिषिकेष रह्यौ मनिकरनिका पै । बिसुनाथ के मंदिर साति पदै ॥
अनपुरना में दाता दीन रहै । रहनी गहनी सम साम गहै ॥

मुनि दरशन को नित आवत जू । चरनोदक लै घर जावत जू ॥
पहिचानि सुप्रीति मुनी तिनकी । सुचि टेक विवेक समीचिन की ॥
तिनके हित ही बहिरांय मुनी । दैके दरसन भितरांय पुनी ॥
सब दरसक बृंद चवाव करैं । मुनि पै पछपात को दोष धरैं ॥
दिन एक परीच्छा लीन मुनी । बहिंराये नहीं सोइ भाव गुनी ॥
तन तीनिउ ता छिन त्यागि किये । चरनोदक जीवन दान दिये ॥

दो०—सोरह सै उनहत्तरो, माधव सित तिथि थीर ।
पूरन आयू पाइकै, टोडर तजै सरीर ॥ ८७ ॥
मीत विरह मे तीन दिन, दुषित भये मुनि धीर ।
समुझि समुझि गुन मीतके, भरयो विलोचन नीर ॥ ८८ ॥
पांच मास बीते परे, तेरस सुदी कुआर ।
जुग सुत टोडर बीच मुनि, बांटि दिये घर बार ॥ ८९ ॥
नष-सिष कर्ता आसु कवि, भीषमसिंह कनगोय ।
आयो मुनि दरसन कियो, त्यागेउ तन हरि जोय ॥ ९० ॥
गंग कहेउ हाथी कवन, माला जपेउ सुजान ।
कठमलिया बंचक भगत, कहि सो गयो रिसान ॥ ९१ ॥
छमा किये नहिं स्राप दिय, रंगे साति रस रंग ।
मारग में हाथी कियो, झपटि गंगतन भंग ॥ ९२ ॥
कवि रहीम बरवै रचै, पठये मुनिवर पास ।
लषि तेइ सुंदर छंद में, रचना कियो प्रकास ॥ ९३ ॥
मिथिला में रचना किये, नहछू मंगल दोय ।
मुनि प्राचे मत्रित किये, सुख पावें सब कोय ॥ ९४ ॥

बाहु पीर व्याकुल भये, बाहुक रचे सुधीर ।
पुनि बिराग संदीपनी; रामाज्ञा सकुनीर ॥ ९५ ॥
पूर्व रचित लघु ग्रंथननि, दोहराये मुनि धीर ।
लिपवाये सब आन ते, भो अति छीन सरीर ॥ ९६ ॥
जहांगीर आयो तहा, सत्तर संवत बीत ।
धन धरती दीनो चहै, गहे न गुनि बिपरीत ॥ ९७ ॥
बिरबल की चर्चा भई, जो पटु बागबिलास ।
बुद्धि पाइ नहिं हरि भजे, मुनि किय षेद प्रकास ॥ ९८ ॥
अवधपुरी को चोहडा, हैं अवधवासि प्रिय जानि ।
हृदय लगाये प्रेमवस, रामरूप तेहि मानि ॥ ९९ ॥
सिद्ध बृंद गिरिनार के, नभ ते उतरे आय ।
करि दरसन पुलकित भये, प्रश्न किये सतिभाय ॥१००॥

सो०—तुमहिं न व्यापै काम, अति कराल कारन कवन ।
कहिय तात सुषधाम, जोग प्रभाव कि भगति वल ॥ १९ ॥

दो०—जोग न भगति न ग्यान वल, केवल नाम अधार ।
मुनि उत्तर सुनि मुदित मन, सिद्ध गये गिरिनार ॥१०१॥
बैठि रहे मुनि घाट पर, जुरे लोग वहुताय ।
आयो भाट सुचंद्रमनि, विनय कियो परि पाय ॥१०२॥

सवैया

पन दोइक भोग विषय अरुझान अब जो रह्यो सो न पसाइय जू ।
अब लौं सब इंद्रिन लोग हंस्यो अब तो जनि नाथ हंसाइय जू ॥

मद मोह महा षल काम अनी मम मानस ते निकसाइय जू।
रघुनंदन के पद के सदके तुलसी मोहि कासि बसाइय जू॥ १॥

दो०—बिनय सुनत पुलकित भये, कहि रिपिराज महान।
बसहु सुषेन इतै सदा, करहु राम गुन गान॥१०३॥
हत्यारा ढिग आयऊ, बिप्र चंद तिसु नाम।
दूर ठाढ बोलत भयो, राम राम पुनि राम॥१०४॥
इष्ट नाम सुनि मगन भे, तुरत लिये उर लाय।
आदर जुत भोजन दिये, हरषि कहे रिषिराय॥१०५॥
तुलसी जाके मुषनि ते, धोषेहु निकसे राम।
ताके पग की पैतरी, मोरे तन को चाम॥१०६॥
समाचार व्यापो तुरत, बीथिन बीथिन मांझ।
ग्यानी ध्यानी बिप्र भट, सुधी जुरै भइ सांझ॥१०७॥
कैसे घातक सुद्ध भो, कहिये संत महान।
कंहे जु नाम प्रताप ते, बाचहु बेद पुरान॥१०८॥
कह्यौ लिष्यौ तौ है सही, होत न पै बिस्वास।
मन माने जाते कहिय, सोइ कर्त्तव्य प्रकास॥१०९॥
कहे जो सिव को नादिया, गहै तास कर ग्रास।
तब तो निस्चय उपज ही, सबके मन बिस्वास॥११०॥
मुनि प्रसाद ऐसहि भयो, चहुं दिसि जयजयकार।
निंदक मांगे छमा सब, पग परि बारंबार॥१११॥
राम नाम दिन भर रटै, लोभ बिबस मुनि थान।
साँझ समय तेहि बिप्र कंह, द्रव्य देत हनुमान॥११२॥

राम दरस हित कमलभव, हठेउ कहेउ मुनिराय ।
तरु ते कूदि त्रिसूल पै, दरस लेहु किन जाय ॥११३॥
गाड़ि सूल अरु ब्रिटप चढि, हिम्मत हारेउ पात ।
लषेउ पछाहीं बीर इक, अस्व चढे मग जात ॥११४॥
पूछेउ मर्म कहेउ कथा, सो चढि ब्रिटप तुरंत ।
कूदेउ उर बिस्वास धरि, दीन दरस भगवंत ॥११५॥
अंत समय हनुमत दिये, तत्त्व ग्यान को बोध ।
राम नाम ही बीज है, सृष्टि बृच्छ न्यग्रोध ॥११६॥
पर प्रस्थान की सुभ घडी, आयो निकट ब्रिचारि ।
कहेउ प्रचारि मुनीस तब, आपन दसा निहारि ॥११७॥
रामचंद्र जस बरनि कै, भयो चहत अब मौन ।
तुलसी के मुष दीजिये, अब ही तुलसी सोन ॥११८॥
संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर ।
सावन स्यामा तीज सनि, तुलसी तज्यो सरीर ॥११९॥
मूल गोसाई चरित नित, पाठ करै जो कोय ।
गौरी सिव हनुमत कृपा, राम परायन होय ॥१२०॥
सोरह सै सत्तासि सित, नवमी कातिक मास ।
विरच्यो यहि निज पाठ हित, वेनीमाधवदास ॥१२१॥

इति श्रीवेणीमाधवदासकृत मूल गोसाईंचरित समाप्त ॥

श्रीसूगण्डिल्यगोत्रोत्पन्नपंक्तिपावनत्रिपाठीरामरक्षमणिरामदासेन

तदात्मजेन च लिखितम् ।

मिति विजयादशमी संवत् १८४८ भृगुवासरे ।